तुलसी प्रज्ञा

TULSÍ PRAJÑĀ

वर्ष 31 ◦ अंक 119 ◦ जनवरी-मार्च, 2003

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी

जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं
(मान्य विश्वविद्यालय)
JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN
(DEEMED UNIVERSITY)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-119 JANUARY—MARCH, 2003

Patron
Sudhamahi Regunathan
Vice-Chancellor

Editor in Hindi Section
Dr. Mumukshu Shanta Jain

English Section
Dr. Jagat Ram Bhattacharya

Editorial-Board
Dr. Mahavir Raj Gelra, Jaipur
Prof. Satyaranjan Banerjee, Calcutta
Dr. R.P. Poddar, Pune
Dr. Gopal Bhardwaj,Jodhpur
Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun
Dr. Bachh Raj Dugar, Ladnun
Dr. Hari Shankar Pandey, Ladnun
Dr. J.P.N. Mishra, Ladnun

Publisher :
Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL. 119 JANUARY—MARCH, 2003

Editor in Hindi
Dr. Mumukshu Shanta Jain

Editor in English
Dr Jagat Ram Bhattacharya

Editorial Office
Tulsi Prajna, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
LADNUN-341 306 (Rajasthan)

Publisher	:	Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun-341 306 (Rajasthan)
Type Setting	:	Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun-341 306 (Rajasthan)
Printed at	:	Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015 (Rajasthan)

Sbuscription (Individuals) Three Year 250/-, Life Membership Rs. 1500/-
Sub-Institutions/Libraries) Annual Rs. 200/-

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका/CONTENTS

हिन्दी खण्ड

विषय	लेखक	पृष्ठ
पुद्गलास्तिकाय एक विमर्श	समणी मंगलप्रज्ञा	1
अनयोगद्वार सूत्र में नय विवेचना	डॉ. अनेकान्त कुमार जैन	21
जैन कर्म सिद्धान्त में अनेकान्त	डॉ. अशोक कुमार जैन	31
प्राकृत कथा साहित्य : उद्भव, विकास एवं व्यापकता	डॉ. जिनेन्द्र जैन	42
आत्म-समाधि और वैयावृत्त्य	साध्वी मुदितयशा	49
उत्तराध्ययन और गीता में समानता	पं. विश्वनाथ मिश्र	59
जलों की महत्ता एवं संरक्षण वैदिक अवधारणा	डॉ. नन्दिता सिंघवी	65
ध्यान का स्वरूप एवं महत्त्व तत्त्वार्थ सूत्र में	डॉ. विनोद कुमार पाण्डेय	70

अंग्रेजी खण्ड

Subject	Author	Page
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	77
Jain System of Education	Prof. D.N. Bhargava Dr. B.R. Dugar	94
Courtesans in Jain Literature	Dr. Anil Dhar	106

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाश और स्वास्थ्य

जो धन का संग्रह करते हैं, उसका त्याग नहीं करते, वे प्रकाश की उपेक्षा कर धुएँ को अपने भीतर संचित कर रहे हैं।

जो सत्ता का संग्रह करते हैं, उसका त्याग नहीं करते, वे स्वास्थ्य की उपेक्षा कर दूषित वायु को अपने भीतर संचित कर रहे हैं।

जीवन का सूत्र है - ग्रहण करो, काम में लो और त्याग दो।

जो इस सूत्र से परिचित हैं, उनके जीवन में प्रकाश है, सुख और स्वास्थ्य है।

जो केवल लेना जानते हैं, देना नहीं जानते, भोग करना जानते हैं, किन्तु त्याग करना नहीं जानते, उन्हें न प्रकाश प्राप्त है और न स्वास्थ्य।

भोग से शौर्य का दीप बुझता है और त्याग से वह प्रज्वलित होता है। भोग से जीवन का फूल मुरझा जाता है और त्याग से खिलता है।

— **आचार्य महाप्रज्ञ**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गलास्तिकाय एक विमर्श

समणी मंगलप्रज्ञा

सभी भारतीय दर्शनों में पृथक्-पृथक् नाम से पुद्गल की अवधारणा पर विमर्श हुआ है। चार्वाक् दर्शन में भूत[1], सांख्यदर्शन में प्रकृति[2], न्याय-वैशेषिक में जड़-द्रव्य[3], बौद्ध में रूप[4], शंकर वेदान्त में माया[5] एवं जैन में पुद्गल[6] के नाम से इसके स्वरूप पर विमर्श हुआ है। आधुनिक भौतिक विज्ञान भी मुख्य रूप से पुद्गल पर ही आधारित है। यही एक ऐसा तत्त्व है जो दर्शन और विज्ञान — इन दोनों के कार्यक्षेत्र में प्रविष्ट है। हम इस प्रस्तुत प्रबन्ध में पुद्गल से सम्बन्धित उन कतिपय अवधारणाओं का ही उल्लेख करेंगे जो आगमोत्तर साहित्य में अल्पमात्रा में चर्चित हुई हैं। अन्य दर्शनों से अथवा विज्ञान के साथ तुलना का प्रयत्न प्रसंग प्राप्त कदाचित् ही हो सकेगा। उन संदर्भों के लिए पाठक Concept of Matter in Jaina Philosophy[7] आदि पुस्तकों का अवलोकन कर सकते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार जिसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हो वह पुद्गल कहलाता है। वह रूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित तथा लोक का एक अंशभूत द्रव्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं गुण के आधार पर उसकी मीमांसा की गई है।

द्रव्य की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय अनन्त द्रव्य है।

क्षेत्र की अपेक्षा वह लोकप्रमाण है।

काल की अपेक्षा नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है।

भाव की अपेक्षा से वर्णवान, गंधवान, रसवान और स्पर्शवान है।

गुण की अपेक्षा से ग्रहणगुण-समुदित एवं विभक्त होने की योग्यता वाला है।[8]

संघात और भेद, मिलना और बिखरना पुद्गल का असाधारण गुण है।[9]

चार अस्तिकायों में केवल संघात है, भेद नहीं है। भेद के बाद संघात और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघात के पश्चात् भेद — यह शक्ति केवल पुद्गलास्तिकाय में है। दो परमाणु मिलकर द्विप्रदेशी यावत् अनन्त परमाणु मिलकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध बन जाते हैं। पुनः वियुक्त होकर वे दो परमाणु यावत् अनन्त परमाणु हो जाते हैं। यदि पुद्गल में संयोग-वियोग गुण नहीं होता तो यह विश्व या तो एक पिण्ड ही होता या केवल परमाणु ही होता। उन दोनों रूपों से वर्तमान विश्व-व्यवस्था फलित नहीं होती। पुद्गल द्रव्य रूपी है, इन्द्रियगम्य है, इसलिए इसका अस्तित्व बहुत स्पष्ट है पर इसकी स्वतंत्र सत्ता का आधार यह संघात-भेदात्मक गुण है।[10]

जीव और पुद्गल — इन दोनों अस्तिकायों के योग से विश्व की विविध परिणतियां होती हैं।[11] तीन अस्तिकाय अपनी स्वरूप-मर्यादा तक ही परिवर्तित होते हैं। वे बाह्य निमित्तों से प्रभावित नहीं होते और न वे दूसरे द्रव्यों को प्रभावित करते हैं।

पुद्गल की द्विरूपता

पुद्गल परमाणु एवं स्कन्ध के भेद से दो प्रकार का है।[12] यह दृश्य जगत्-पौद्गलिक जगत् परमाणु संघटित है। परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धों से स्थूल पदार्थ का निर्माण होता है। पुद्गल में संघात एवं भेद — ये दोनों शक्तियाँ हैं।[13] परमाणुओं के संयोग से स्कन्ध बनते हैं। स्कन्ध के टूटने से अन्य अनेक स्कन्ध भी बन जाते हैं। स्कन्ध के टूटने से परमाणु भी बन जाते हैं।[14] दो परमाणु पुद्गल के मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और द्विप्रदेशी स्कन्ध के टूटने से दो परमाणु बन जाते हैं। ऐसे ही तीन परमाणु मिलने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके टूटने से दो प्रकार की उत्पत्ति हो सकती है-तीन पृथक्-पृथक् परमाणु अथवा एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध। इस प्रकार संघात एवं भेद से स्कन्ध का निर्माण होता है[15] तथा अणु भेद से ही उत्पन्न होता है। परमाणु के योग से स्कन्ध का निर्माण होता है। दो परमाणुओं का योग द्विप्रदेशी स्कन्ध, तीन परमाणुओं का त्रिप्रदेशी स्कन्ध यावत् अनन्त परमाणुओं का योग अनन्त प्रदेशी स्कन्ध कहलाता है। स्कन्ध का कारण परमाणु है।

नयचक्र में परमाणु का कारण और कार्य — दोनों रूपों में निर्देश किया गया है।[16] परमाणु के योग से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है, अतः परमाणु स्कन्ध कारण है। स्कन्ध के टूटने से परमाणु अपने मूल रूप में चला जाता है, अतः परमाणु स्कन्ध का कार्य है।

भगवती में परमाणु एवं स्कन्ध की एजन, व्येजन आदि क्रियाओं का उल्लेख है।[17] परमाणु का स्कन्ध रूप में परिणमन एजन आदि क्रियाओं से ही होता है। परमाणु और स्कन्ध में एजन आदि क्रिया होती है तो वे विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होते हैं — तं तं भावं परिणमति।[18] एजन आदि क्रियाओं के अभाव में वे विभिन्न अवस्थाओं में परिणत नहीं होते — नो तं तं भावं परिणमति।[19] परमाणु और स्कन्ध में कदाचित् एजन होता भी है और नहीं भी होता है। यहां भी अनेकान्त की वक्तव्यता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाणु की सप्रदेशता-अप्रदेशता

पुद्गल द्रव्य की सूक्ष्मतम इकाई को परमाणु कहते हैं। परमाणु से और कोई छोटा भेद पुद्गल का नहीं हो सकता। परमाणु अभेद्य है।[20] परमाणु अपनी द्रव्यात्मक अवस्था में विशुद्ध रूप से अकेला होता है। वह अपनी स्वतंत्र अवस्था में अप्रदेशी है। परमाणु का अर्ध, मध्य भाग भी नहीं होता।[21] ठाणं में भी परमाणु को अभेद्य, अदाह्य, अग्राह्य, अनर्ध, अमध्य, अप्रदेश एवं अविभागी कहा है।[22] भगवती में परमाणु के चार प्रकार बतलाए हैं — द्रव्य परमाणु, क्षेत्र परमाणु, काल परमाणु एवं भाव परमाणु। वहां द्रव्य परमाणु को अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अग्राह्य, एवं क्षेत्र परमाणु को अनर्ध, अमध्य, अप्रदेश एवं अविभागी कहा है।[23] भगवती में द्रव्य और क्षेत्र परमाणु का जो स्वरूप बताया है, स्थानांग में यह संयुक्त रूप से द्रव्य और क्षेत्र का भेद किये बिना परमाणु के स्वरूप का व्याख्यान है। भगवती में ही अन्यत्र परमाणु को अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश कहा है।[24] परमाणु अप्रदेश है — यह वक्तव्य द्रव्य एवं क्षेत्र परमाणु की अपेक्षा से है। काल एवं भाव की अपेक्षा परमाणु सप्रदेशी एवं अप्रदेशी दोनों हो सकता है।[25] द्रव्य की अपेक्षा परमाणु निरवयव है, अतः वह अप्रदेशी है तथा क्षेत्र की अपेक्षा वह एक आकाश प्रदेशावगाही ही होता है, अतः क्षेत्र की अपेक्षा भी अप्रदेशी है। काल की अपेक्षा जो परमाणु एक समय स्थिति वाला है अर्थात् एक समय के बाद स्कन्ध में परिवर्तित हो जाएगा वह अप्रदेशी एवं एक से अधिक समय स्थिति तक परमाणु रूप में ही रहेगा, वह सप्रदेशी है। एक परमाणु में एक वर्ण होता है। उस वर्ण की मात्राएँ अनेक होती हैं। कभी वह एक गुण काला होता है, कभी दो गुण, संख्यात गुण, असंख्यात गुण और अनन्त गुण काला होता है। इसी प्रकार गंध, रस और स्पर्श में भी गुण भेद अथवा मात्रा भेद होता है। जब एकगुण अथवा एकमात्रा वाला होगा तब भाव की अपेक्षा भी अप्रदेशी होगा। एक से अधिक गुण या मात्रा वाला होगा तो सप्रदेशी कहलाएगा।[26]

भगवती में भाव परमाणुओं में वर्णवान, गंधवान, रसवान एवं स्पर्शवान कहा है।[27] इस अपेक्षा से भी उन्हें सप्रदेशी कहा जा सकता है। सिद्धसेनगणी के अनुसार भाव परमाणु सावयव और द्रव्य परमाणु निरवयव होता है।[28] अनेकान्त दृष्टि से विचार करने पर परमाणु की सप्रदेशता-अप्रदेशता सिद्ध हो जाती है।

स्कन्ध की सप्रदेशता-अप्रदेशता

परमाणु की तरह ही अपेक्षा भेद से स्कन्ध भी सप्रदेशी एवं अप्रदेशी उभय रूप हो सकता है। जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया था कि द्रव्य की अपेक्षा परमाणु अप्रदेशी ही होता है। स्कन्ध के सम्बन्ध में इससे विपरीत होगा, द्रव्य की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी ही होगा।[29] क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी एवं अप्रदेशी उभयरूप हैं। द्रव्य की अपेक्षा द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध सप्रदेश होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्र की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी भी होते हैं और अप्रदेशी भी। जो एक आकाश प्रदेशावगाही होता है वह अप्रदेशी और जो दो आदि आकाश-प्रदेशावगाही होता है वह सप्रदेशी। काल की अपेक्षा जो स्कन्ध एक समय की स्थिति वाला होता है वह अप्रदेशी और जो इससे अधिक स्थिति वाला होता है वह सप्रदेशी। भाव की अपेक्षा एक गुण वाला स्कन्ध अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी होता है।[30]

परमाणु-पुद्गल की शाश्वतता-अशाश्वतता

जैन दर्शन के अनुसार अस्तित्व विरोधी धर्मों का समवाय है। प्रत्येक वस्तु में एक साथ, एक ही काल में विरोधी धर्मों का सहावस्थान है। परमाणु-पुद्गल में भी यही नियम घटित होता है। वह शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।[31] द्रव्यार्थ की अपेक्षा वह शाश्वत है एवं वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत है।[32] अपेक्षा भेद से वस्तु में स्थित विरोधी धर्मों के सहावस्थान की सम्यक् व्याख्या की जा सकती है।

पुद्गल के परिवर्तन का नियम

पुद्गल द्रव्य के दो रूप हैं — परमाणु और स्कन्ध। परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण करते हैं। स्कन्ध का विघटन होने पर वे फिर परमाणु बन जाते हैं। यह परिवर्तन चक्र सतत चलता रहता है। परमाणु का परमाणु के रूप में अवस्थान जघन्य एक समय एवं उत्कृष्ट असंख्येय काल तक हो सकता है[33] अर्थात् परमाणु का परमाणु के रूप में अधिकतम अवस्थान असंख्येय काल तक ही हो सकता है। उसके पश्चात् उसे स्कन्ध रूप में परिणत होना ही पड़ेगा। कोई भी पुद्गल एक ही रूप में अनन्त काल तक नहीं रह सकता। इनके परिवर्तन की न्यूनतम सीमा बहुत छोटी है, मात्र एक समय। एक समय और असंख्यकाल की सीमा के मध्य जितना काल है उतने ही विकल्प बन जाते हैं। यही नियम परमाणु की भाँति स्कन्ध पर ही लागू होता है।[34] असंख्येयकाल के बाद तो नियमतः ही परमाणु को स्कन्ध एवं स्कन्ध को परमाणु बनना ही पड़ेगा।

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श — ये पुद्गल के गुण हैं। काला वर्ण एक गुण (Quality) है। उस काले गुण में अनन्त गुणांश रह सकते हैं अर्थात् काले वर्ण में भी तरतमता रहती है, कोई परमाणु एक गुण काला है, कोई दो यावत् अनन्त गुण काला हो सकता है। एक गुण काला जघन्य गुण काला कहलाता है। उसमें गुणांशों की वृद्धि होने पर क्रमशः दो गुण, तीन गुण — इस प्रकार अवस्था भेद होता रहता है।[35] गुण में गुणांश सदा एकरूप नहीं रहता। वह बदलता रहता है। कम-से-कम एक समय में एवं उत्कर्षतः असंख्यकाल में उन गुणांशों में अवश्य परिवर्तन हो जाता है। वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श — इन सबके गुणांशों पर यही नियम लागू होता है।[36]

पुद्गल में परिणमन होता रहता है। वह अल्पकालिक भी होता है और दीर्घकालिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी होता है। पुद्गल के परिणाम का अर्थ है — वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संस्थान आदि का परिवर्तन।[37] यह परिवर्तन गुणात्मक और रूपात्मक दोनों प्रकार का होता है। वर्ण का गुणात्मक परिवर्तन, यथा — एक गुण काला परमाणु, दो, तीन, चार यावत् अनन्त गुण काला हो जाता है।

रूपात्मक परिवर्तन — जैसे काले रंग का परमाणु पीले रंग में बदल जाता है। यह परिणाम गंध, रस, स्पर्श, संस्थान आदि सबमें होता है।[38]

परमाणु का विखण्डन

पुद्गल की अन्तिम इकाई है — परमाणु। परमाणु का छेदन, भेदन, दहन, स्पर्शन आदि नहीं हो सकता जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके हैं। परमाणु से लेकर असंख्यप्रदेशी स्कन्ध का बाह्य साधनों से छेदन-भेदन नहीं किया जा सकता।[39] अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में विकल्प है, उसका छेदन-भेदन आदि हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता।[40]

आधुनिक विज्ञान के अनुसार परमाणु का विखण्डन हो सकता है। इस संदर्भ में हम जैन दर्शन की अवधारणा पर विमर्श करेंगे।

परमाणु की द्विरूपता

अनुयोगद्वार में परमाणु के दो प्रकार बतलाए गए हैं — सूक्ष्म और व्यावहारिक।[41] व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के समुदाय से निष्पन्न होता है।[42] निश्चयनय की अपेक्षा से वह अनन्तप्रदेशी स्कन्ध है। व्यवहारनय की अपेक्षा से उसे व्यावहारिक परमाणु कहा गया है।[43]

परमाणु एवं असंख्यप्रदेशी स्कन्ध का विखण्डन नहीं होता तथा अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का विखण्डन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता, इस नियम का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के लिए विकल्प इसलिए है कि स्थूल परिणति वाला अनन्त प्रदेशी स्कन्ध असिधारा से छिन्न-भिन्न हो जाता है तथा सूक्ष्म परिणति वाला असिधारा से छिन्न-भिन्न नहीं होता।[44] व्यावहारिक परमाणु सूक्ष्म परिणति वाला अनन्तप्रदेशी स्कन्ध है। अनुयोगद्वार के अनुसार वह असिधारा से छिन्न-भिन्न नहीं होता।[45]

जैनदर्शन के अनुसार विज्ञानसम्मत अणु अनन्तप्रदेशी स्कन्ध है। व्यावहारिक परमाणु भी शस्त्र से नहीं टूटता। विज्ञान अणु में विभाजन स्वीकार कर रहा है। इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का मन्तव्य मननीय है — "व्यावहारिक परमाणु भी शस्त्र से नहीं टूटता। इस विषय में एक प्रश्न उपस्थित होता है — आगम साहित्य में असिधारा से परमाणु छिन्न-भिन्न नहीं होता, यह कहा गया है। असि की धारा बहुत स्थूल होती है, इसलिए उससे परमाणु का विभाजन नहीं होता, यह सही है। आधुनिक विज्ञान ने बहुत सूक्ष्म उपकरण विकसित किए हैं। उनसे व्यावहारिक परमाणु के विभाजन की संभावना की जा सकती है।[46]"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ की द्विरूपता : भारमुक्त या भारयुक्त

जैनदर्शन के पदार्थ जगत् में षड्द्रव्य का सिद्धांत मान्य है।[47] उनमें धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और काल ये पांच पदार्थ तो सर्वथा भारमुक्त हैं।[48] उन्हें अगुरुलघु कहा गया है। अगुरुलघु भारहीन ही होते हैं। पुद्गलास्तिकाय गुरुलघु (भारयुक्त) एवं अगुरुलघु (भारमुक्त) दोनों ही प्रकार का होता है।[49] भार का सम्बन्ध स्पर्श से है। वह पुद्गल द्रव्य का एक गुण है। परमाणु से लेकर चतुःस्पर्शी स्कन्ध तक के पुद्गल अगुरुलघु होते हैं। कार्मण वर्गणा चतुःस्पर्शी है, अतः कर्म को अगुरुलघु कहा है।[50] पांच शरीर में कार्मण शरीर को अगुरुलघु एवं शेष चार शरीर को गुरुलघु कहा है।[51] कार्मण शरीर को छोड़कर शेष चार शरीर अष्टस्पर्शी पुद्गल स्कन्धों से निर्मित है। मनयोग, वचनयोग को अगुरुलघु एवं काययोग को गुरुलघु कहा गया है।[52] यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि काययोग को एकान्त गुरुलघु क्यों कहा गया? क्योंकि कार्मण शरीर तो चतुःस्पर्शी है। उसका योग भी चतुःस्पर्शी होना चाहिए। यहां यह सम्भावना भी नहीं की जा सकती कि कार्मण शरीर तो चतुःस्पर्शी है किन्तु योग अष्टस्पर्शी हो जाता है, क्योंकि मनोयोग, वचनयोग को अगुरुलघु कहा है। संभव ऐसा लगता है कि यह वक्तव्य कार्मण शरीर से इतर शरीरों के लिए है, क्योंकि कार्मण योग तो मात्र अन्तराल गति एवं केवली समुद्घात के समय में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं है। चार शरीरों का ही काययोग मुख्य है, अतः बहुलता की दृष्टि से काययोग को गुरुलघु कह दिया गया है। यह भी सापेक्ष वचन ही है।

पुद्गल का परिणमन

जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल रूपी है।[53] रूपी उसे कहते हैं जिसमें वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श होते हैं।[54] पांच अस्तिकायों में मात्र पुद्गल ही मूर्त है। पुद्गल का परिणमन अनेक प्रकार का होता है। भगवती में पुद्गल के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श संस्थान — इन पांच प्रकार के परिणमनों का उल्लेख प्राप्त है।[55] स्थानांग में चतुर्विध पुद्गल-परिणमन का उल्लेख है।[56] वहां पर संस्थान का उल्लेख नहीं किया गया है। इसका अर्थ हुआ वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श पुद्गल मात्र का असाधारण धर्म है। ये चारों गुण परमाणु तथा स्कन्ध दोनों में ही रहेंगे। यद्यपि संस्थान पुद्गल का ही होता है किंतु यह संस्थान रूप परिणमन स्कन्ध में ही हो सकता है, परमाणु में नहीं। अतः संस्थान रूप परिणमन की पुद्गल में सर्वव्यापकता नहीं है, इसलिए ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने पुद्गल के लक्षण विमर्श में दो सूत्रों का प्रणयन किया है। स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः[57] शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तः[58] इसका अर्थ हुआ शब्द आदि पुद्गल के ही धर्म हैं किन्तु ये अणु में नहीं रह सकते। स्कन्धरूप पुद्गल में ही रहेंगे।[59] परमाणु एवं स्कन्ध में स्पर्श आदि गुण एक समान नहीं होते। इसका विमर्श भी भगवती में पर्याप्त रूप से हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस एवं दो स्पर्श होते हैं।[60] परमाणु में पांच वर्णों में से कोई एक वर्ण, दो गंध में से कोई एक गंध तथा पांच रसों में से कोई एक रस हो सकता है। स्पर्श दो होंगे। कौन से दो होंगे? इस संदर्भ में चार विकल्प प्राप्त हैं—

1. शीत और स्निग्ध।
2. अथवा शीत और रुक्ष।
3. अथवा उष्ण और स्निग्ध।
4. अथवा उष्ण और रुक्ष।[61]

भिन्न-भिन्न प्रदेशी स्कन्ध में वर्ण आदि के विभिन्न विकल्प बनते हैं। जिसको निम्नलिखित चार्ट से समझा जा सकता है[62]—

	वर्ण	गन्ध	रस	स्पर्श
परमाणु	कोई एक	कोई एक	एक	दो
द्विप्रदेशी	एक या दो	एक या दो	एक या दो	दो, तीन या चार
त्रिप्रदेशी	एक, दो या तीन	एक या दो	एक, दो या तीन	दो, तीन या चार
चतुः प्रदेशी	एक, दो, तीन या चार	एक या दो	एक, दो, तीन या चार	दो, तीन या चार
पांच प्रदेशी	एक, दो, तीन, चार या पांच	एक या दो	एक, दो, तीन, चार या पांच	दो, तीन या चार
असंख्यप्रदेशी	एक, दो, तीन, चार या पांच	एक या दो	एक, दो, तीन, चार या पांच	दो, तीन या चार
सूक्ष्मपरिणति वाले अनंतप्रदेशी स्कन्ध	एक, दो, तीन, चार या पांच	एक या दो	एक, दो, तीन, चार या पांच	दो, तीन या चार
बादरपरिणति वाले अनंत प्रदेशी स्कन्ध	एक, दो, तीन, चार या पांच	एक या दो	एक, दो, तीन, चार या पांच	चार, पांच, छह, सात या आठ

द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों में वर्ण-वर्ण, रस-रस, स्पर्श-स्पर्श के भी परस्पर अनेक विकल्प हो सकते हैं। जिसका भगवती में विस्तार से उल्लेख प्राप्त है।[63] जिज्ञासु को भगवती के उस स्थल का अवलोकन करना चाहिए।

द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर सूक्ष्मपरिणति वाले अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में शीत, उष्ण, स्निग्ध एवं रुक्ष इनमें से दो, तीन या चार स्पर्श प्राप्त होते हैं।[64] अतः ये स्कन्ध अगुरुलघु अर्थात् भारहीन होंगे। बादर परिणति वाले अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में चार स्पर्श से यावत् अष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पर्श तक होते हैं। उनमें जब चार स्पर्श होते हैं तब आठों में से कोई भी स्पर्श साथ रह सकता है, मात्र लघु और गुरु स्पर्श साथ नहीं रहते। पांच स्पर्शी स्कन्ध से लेकर आगे तक गुरु-लघु स्पर्श साथ भी रह सकते हैं,[65] अत: ये स्कन्ध भारयुक्त होने चाहिए, भले वे चार स्पर्श से यावत् आठ स्पर्श वाले क्यों न हो। गुरु एवं लघु स्पर्श ही स्कन्ध की भारयुक्तता के नियामक होते हैं, अत: बादर परिणति वाले अनन्तप्रदेशी चतुस्पर्शी स्कन्ध में भी भार की संभावना परिलक्षित हो रही है।

पुद्गल की ग्राह्य-अग्राह्यता

पुद्गल स्पर्श, रस आदि से युक्त होने के कारण रूपी है। षड्द्रव्यों में यदि कोई इन्द्रिय का विषय बनता है तो वह केवल पुद्गल ही बन सकता है किंतु सारे पुद्गल इन्दिय्र-ग्राह्य नहीं होते। छद्मस्थ दो प्रकार के होते हैं — इन्द्रियज्ञानी एवं अतीन्द्रियज्ञानी। इन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति परमाणु से लेकर सूक्ष्म परिणति वाले अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के पुद्गलों का ग्रहण नहीं कर सकता। भगवती में कहा गया है कि परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को कुछ छद्मस्थ जानते हैं, कुछ नहीं जानते हैं।[66] परमाणु से लेकर असंख्यप्रदेशी स्कन्ध इन्द्रियज्ञान के विषय नहीं बन सकते। अनन्तप्रदेशी के लिए जो वक्तव्य है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष के संदर्भ में सूक्ष्म-परिणति वाले अनन्तप्रदेशी के लिए है। बादर परिणति वाले अनन्तप्रदेशी स्कन्धों में से कतिपय का ज्ञान तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से होता ही है। यदि इसका अर्थ सूक्ष्म-बादर दोनों ही प्रकार के अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते तो "कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते" इसमें अनन्तप्रदेशी को अर्थात् पुद्गल मात्र को ग्रहण न करने वाले कौन-से जीव होंते हैं, क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि संसार के सभी प्राणी किसी-न-किसी रूप में पुद्गल का ग्रहण/ज्ञान तो करते ही हैं।

सामान्य अवधिज्ञान के धारक कुछ प्राणी परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को जानते-देखते हैं।[67] परमावधि सम्पन्न व्यक्ति एवं केवलज्ञानी उनको जानते-देखते हैं किन्तु युगपद् जानने-देखने की क्रिया नहीं कर सकते। क्रमपूर्वक ही उनको जानते-देखते हैं,[68] क्योंकि एक ही समय में एक ही उपयोग हो सकता है। फलितार्थ में यह कह सकते हैं कि इन्द्रियज्ञान के मात्र बादर परिणति वाले अनन्तप्रदेशी स्कन्ध ही ज्ञेय बनते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान परमाणु एवं स्कन्ध दोनों को ही अपना ज्ञेय बना सकता है।

पुद्गल परिणति के प्रकार

परिणमन की अपेक्षा से पुद्गल तीन प्रकार के होते हैं —

1. प्रयोग परिणत,
2. मिश्र परिणत,
3. विस्रसा (स्वभाव) परिणत।[69]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग निरपेक्ष परिवर्तन को विस्रसा कहा जाता है।[70] शरीर आदि की संरचना जीव के प्रयत्न से होती है, वह प्रयोग परिणत है।[71] सिद्धसेनगणी ने प्रयोग का अर्थ जीव का व्यापार किया है।[72] अकलंक ने प्रयोग का अर्थ पुरुष का शरीर, वाणी और मन का संयोग किया है।[73] जीव के प्रयोग और स्वभाव — इन दोनों के योग से जो परिणमन होता है, वह मिश्रपरिणत है। सिद्धसेनगणी ने मिश्र जीव प्रयोग सहचरित अचेतन द्रव्य की परिणति को कहा है।[74] अभयदेवसूरि ने मिश्र को समझाने के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं —

1. मुक्त जीव का शरीर,

2. औदारिकादि वर्गणाओं का शरीर रूप में परिणमन।

शरीर का निर्माण जीव ने किया है, इसलिए वह जीव के प्रयोग से परिणत द्रव्य है। स्वभाव से उसका रूपान्तरण होता है, इसलिए वह मिश्रपरिणत द्रव्य है।

औदारिक आदि वर्गणा स्वभाव से निष्पन्न है। जीव के प्रयोग से वे शरीर रूप में परिणत होती हैं। इसमें भी जीव का प्रयोग और स्वभाव — दोनों का योग है।

उन्होंने स्वयं प्रश्न प्रस्तुत किया — प्रयोग परिणाम और मिश्र परिणाम में क्या अन्तर है? उन्होंने समाधान में कहा — प्रयोग परिणाम में भी स्वभाव परिणाम है किन्तु वह विवक्षित नहीं है।[75] सिद्धसेनगणी के अनुसार मिश्र परिणाम में प्रयोग और स्वभाव — दोनों का प्राधान्य विवक्षित है, इसका उल्लेख किया है।[76] आचार्य महाप्रज्ञ ने इन दोनों व्याख्याओं की संगति प्रस्तुत करते हुए लिखा — "उक्त दोनों व्याख्याओं की संगति कार्य-कारण के संदर्भ में बिठाई जा सकती है। मिश्र-परिणाम के उदाहरण हैं घट और स्तम्भ। घट के निर्माण में मनुष्य का प्रयत्न है और मिट्टी में घट बनने का स्वभाव है, इसलिए घट मिश्रपरिणत द्रव्य है। इसकी तुलना वैशेषिक सम्मत समवायि कारण से की जा सकती है।"[77]

प्रयोग परिणाम में किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं होती। उसका निर्माण जीव के आंतरिक प्रयत्न से ही होता है। मिश्र-परिणाम में जीव के प्रयत्न के साथ निमित्त कारण का भी योग होता है। स्वभाव परिणाम जीव के प्रयत्न और निमित्त दोनों से निरपेक्ष होता है।[78] भगवती में प्रयोग परिणत का वर्णन विस्तार से हुआ है।[79] इससे फलित होता है — जीव अपने प्रयत्न से शरीर की रचना, इन्द्रिय की रचना, वर्ण का निष्पादन और संस्थान की संरचना करता है।

प्रयोग परिणाम से पुरुषार्थ और स्वभाव परिणाम से स्वभाववाद फलित होता है। जैन दर्शन अनेकान्तवादी है, इसलिए उसे सापेक्ष दृष्टि से पुरुषार्थवाद एवं स्वभाववाद दोनों मान्य हैं।

विस्रसा, प्रयोग एवं मिश्र परिणमन का सिद्धान्त कार्यकारण के क्षेत्र में नवीन दृष्टि प्रदान करता है। विस्रसा परिणत द्रव्य कार्यकारण के नियम से मुक्त होता है। प्रयोग परिणत द्रव्य निमित्त कारण के नियम से मुक्त होता है। मिश्रपरिणत द्रव्य में निर्वर्तक और निमित्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण की संयोजना होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में कार्य-कारण का सिद्धान्त सापेक्ष है। प्रत्येक कार्य के पीछे कारण खोजने की अनिवार्यता नहीं है।

प्रयोग परिणत पुद्गल

शरीर आदि की संरचना जीव के प्रयत्न से होती है वह प्रयोग परिणत पुद्गल है।[80] प्रयोग, विस्रसा एवं मिश्र परिणत पुद्गलों के संदर्भ में विचार करते हैं तब जैन मान्य सृष्टि के दो रूप बनते हैं — 1. जीवकृत सृष्टि, 2. अजीव निष्पन्न सृष्टि।

जीवकृत सृष्टि

प्रयोग परिणत एवं मिश्र परिणत पुद्गलों के माध्यम से जो शरीर आदि की संरचना आदि होती है उसे जीवकृत सृष्टि कहा जा सकता है। जीव अपने वीर्य से शरीर, इन्द्रिय और शरीर के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श एवं संस्थान का निर्माण करता है। यह प्रयोग परिणति है।[81] इसे जीवकृत सृष्टि कहा जा सकता है। प्रयोग परिणत पुद्गल द्रव्य के प्रकरण में शरीर, इन्द्रिय और वर्ण आदि के आधार पर जीवकृत सृष्टि के नानात्व का निरूपण किया गया है।

शरीर और इन्द्रिय पौद्गलिक हैं। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श — ये पुद्गल के गुण हैं।[82] संस्थान पुद्गल का लक्षण है। जीवकृत सृष्टि का नानात्व पुद्गल द्रव्य के संयोग से होता है, इसलिए उसके निरूपण में शरीर, इन्द्रिय, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान का निरूपण किया गया है। जीव जैसे शरीर और इन्द्रिय का निर्माण करता है, वैसे ही अपने वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान का भी निर्माण करता है।[83]

जीव का वीर्य दो प्रकार का होता है — अभोगिक और अनाभोगिक। इच्छा-प्रेरित कार्य करने के लिए वह अभोगिक वीर्य का प्रयोग करता है और अनाभोगिक वीर्य स्वत: चालित है। शरीर, इन्द्रिय और वर्ण आदि की रचना अनाभोगिक वीर्य से होती है। प्रायोगिक बंध अनाभोगिक वीर्य से होता है।[84] भगवती में प्रयोग परिणत के प्रकरण में शरीर के पांच, इन्द्रिय के पांच, वर्ण के पांच, गंध के दो, रस के पांच, स्पर्श के आठ और संस्थान के पांच प्रकार निरूपित हैं।[85] इनके नानात्व के आधार पर जीवकृत सृष्टि का नानात्व परिलक्षित है।

प्रयोग-परिणत पुद्गल द्रव्य का उदाहरण एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत द्रव्य है।[86] इसी प्रकार मिश्र परिणत पुद्गल द्रव्य का उदाहरण भी एकेन्द्रिय मिश्र परिणत द्रव्य है।[87] किंतु दोनों के स्वरूप में भिन्नता है। एकेन्द्रिय जीव ने औदारिक वर्गणा के जिन पुद्गलों से औदारिक शरीर की रचना की है, वे पुद्गल एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत हैं।

एकेन्द्रिय जीव के मुक्त शरीर का स्वभाव से परिणामान्तर होता है। वह एकेन्द्रिय मिश्र परिणत है। इसमें जीव का पूर्वकृत प्रयोग तथा स्वभाव से रूपान्तरण ये दोनों परिणमन विद्यमान हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घड़ा मिट्टी से बना। मिट्टी पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय जीव का शरीर है, वह निर्जीव हो गया। एकेन्द्रिय जीव उससे च्युत हो गया, इस अवस्था में मिट्टी उसका मुक्त शरीर है। उसमें घट रूप में परिणत होने की क्षमता है। मिट्टी का परिणामान्तर हुआ और घट बन गया, इसलिए वह एकेन्द्रिय मिश्र परिणत द्रव्य है।

हमारा दृश्य जगत् पौद्गलिक जगत है। जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह या तो जीवच्छरीर है या जीवमुक्त शरीर है। जीवच्छरीर प्रयोग परिणत द्रव्य का उदाहरण है। उसके मौलिक रूप पांच हैं —

1. एकेन्द्रिय जीवच्छरीर
2. द्वीन्द्रिय जीवच्छरीर
3. त्रीन्द्रिय जीवच्छरीर
4. चतुरिन्द्रिय जीवच्छरीर
5. पंचेन्द्रिय जीवच्छरीर

इनके अवान्तर भेद असंख्य बन जाते हैं।[88] जीवमुक्त शरीर के भी मौलिक रूप पांच ही हैं। उनके परिणामान्तर से होने वाले भेद भी असंख्य बन जाते हैं। प्रयोग-परिणाम, मिश्र परिणाम और स्वभाव-परिणाम — ये सृष्टि रचना के आधारभूत तत्त्व हैं। प्रथम दो परिणाम जीवकृत सृष्टि है। स्वभाव परिणाम अजीव निष्पन्न सृष्टि है। वर्ण आदि का परिणमन पुद्गल के स्वभाव से ही होता है। इसमें जीव का कोई योग नहीं है।[89] सृष्टिवाद को विभिन्न भारतीय दर्शनों ने भिन्न-भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। उसकी मीमांसा प्रयोग, मिश्र और स्वभावजन्य परिणमनों के संदर्भ में की जा सकती है।

प्रयोग एवं विस्त्रसा बंध

बंध स्वाभाविक एवं प्रायोगिक दोनों प्रकार का होता है।[90] स्वाभाविक बंध के दो प्रकार हैं-अनादिकालीन और सादिकालीन।[91] धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकाय के प्रदेशों का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध है, वह अनादिकाल है।[92] इसका हेतु यह है कि ये तीनों अस्तिकाय व्यापक हैं। प्रत्येक अपने स्थान पर व्यवस्थित है। उनका संकोच एवं विस्तार नहीं होता। वे अपने स्थान को कभी नहीं छोड़ते। इनके प्रदेशों में परस्पर देश बंध है, सर्वबंध नहीं है।[93]

सादि विस्त्रसा बंध तीन प्रकार का होता है[94] — 1. बंधन प्रत्ययिक, 2. भाजन प्रत्ययिक, 3. परिणाम प्रत्ययिक।

बंधनप्रत्ययिक — यह पुद्गल के स्कन्ध निर्माण का सिद्धान्त है। दो परमाणु मिलकर द्विप्रदेशी स्कन्ध का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार तीन परमाणु मिलकर तीन प्रदेशी यावत्, अनन्त परमाणु मिलकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का निर्माण करते हैं। इस बंधन के तीन हेतु बतलाए गए हैं[95] — विमात्रस्निग्धता, विमात्ररुक्षता एवं विमात्रस्निग्ध-रुक्षता। तीसरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमात्रस्निग्धरुक्ष का अन्तर्भाव तो पहले दो हेतुओं में ही हो जाता है, फिर उसका पृथक् उल्लेख क्यों किया गया, यह विमर्शनीय है। संभवत: ऐसा लगता है प्रथम दो हेतु सदृश बंध के नियम को प्रस्तुत करते हैं एवं तीसरा विसदृश बंध का हेतु प्रतीत होता है।

समगुण स्निग्ध का समगुण स्निग्ध परमाणु के साथ बंध नहीं होता तथा इसी प्रकार समगुण रुक्ष परमाणु का समगुणरुक्ष के साथ बंध नहीं होता। स्निग्धता और रुक्षता की मात्रा विषम होती है तब परमाणुओं का परस्पर बंध होता है।[96] प्रज्ञापना में विसदृश और सदृश दोनों प्रकार के बंधनों का निर्देश है।[97]

स्निग्ध परमाणुओं का स्निग्ध परमाणुओं के साथ तथा रुक्ष परमाणुओं का रुक्ष परमाणुओं के साथ सम्बन्ध दो अथवा उनसे अधिक गुणों का अन्तर मिलने पर होता है। उनका समान गुण वाले अथवा एक गुण अधिक वाले परमाणु के साथ सम्बन्ध नहीं होता है।[98] स्निग्ध का दो गुण अधिक स्निग्ध के साथ बंध होता है। रुक्ष का दो गुण अधिक रुक्ष के साथ बंध होता है। यह सदृश बंध की प्रक्रिया है।

विसदृश बंध के नियम के अनुसार एक गुण स्निग्ध का एक गुण रुक्ष के साथ बंध नहीं होता। द्विगुण स्निग्ध का द्विगुण रुक्ष के साथ सम्बन्ध हो सकता है। वह समगुण का बंध है। द्विगुण स्निग्ध का त्रिगुण, चतुर्गुण आदि के साथ सम्बन्ध होता है। वह विषम गुण का बंध है। विसदृश सम्बन्ध में सम का सम्बन्ध और विषम का सम्बन्ध — ये दोनों नियम मान्य हैं।

''आगम साहित्य में सृष्टिवाद'' नामक लेख में आचार्य महाप्रज्ञ ने पुद्गल के बंध की प्रक्रिया का विस्तार एवं तुलनात्मक विमर्श किया है। प्रासंगिक होने के कारण उन चार्ट्स का यहां पर यथावत् संग्रहण कर रहे हैं[99] —

प्रज्ञापना-पद —

प्रज्ञापना-पद, उत्तराध्ययन चूर्णि और भगवती जोड़ के अनुसार स्वीकृत यंत्र —

क्रमांक	गुणांक	सदृश	विसदृश
1.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2.	जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं
3.	जघन्य + द्व्यधिक	है	नहीं
4.	जघन्य + त्र्यादिअधिक	है	नहीं
5.	जघन्येतर + समजघन्येतर	है	है
6.	जघन्येतर + एकाधिकतर	है	है
7.	जघन्येतर + द्व्यधिकतर	है	है
8.	जघन्येतर + त्र्यादिअधिकतर	है	है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंध के सम्बन्ध में सभी परम्पराएँ सदृश नहीं हैं। द्रष्टव्य यंत्र तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका 5/55 के अनुसार—

क्रमांक	गुणांक	सदृश	विसदृश
1.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2.	जघन्य + एकाधिक	नहीं	है
3.	जघन्य + द्व्यधिक	है	है
4.	जघन्य + त्र्यादिअधिक	है	है
5.	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं
6.	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
7.	जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
8.	जघन्येतर + अधिक जघन्येतर	है	है

दिगम्बर ग्रंथ सर्वार्थसिद्धि के अनुसार—

क्रमांक	गुणांक	सदृश	विसदृश
1.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2.	जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं
3.	जघन्य + द्व्यधिक	नहीं	नहीं
4.	जघन्य + त्र्यादिअधिक	नहीं	नहीं
5.	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं
6.	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
7.	जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
8.	जघन्येतर + त्र्यादिअधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर ग्रंथ षट्खंडागम के अनुसार—

क्रमांक	गुणांक	सदृश	विसदृश
1.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2.	जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं
3.	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	है
4.	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
5.	जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
6.	जघन्येतर + त्र्यादिअधिक जघन्येतर	नहीं	है

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार—

क्रमांक	गुणांक	सदृश	विसदृश
1.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2.	जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं
3.	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं
4.	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
5.	जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
6.	जघन्येतर + त्र्यादिअधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

भाजन-प्रत्ययिक बंध

सादि विस्रसा बंध का यह द्वितीय प्रकार है। भाजन का अर्थ है — आधार।[100] किसी भाजन में रखी हुई वस्तु का स्वरूप दीर्घकाल में बदल जाता है, वह भाजन प्रत्ययिक बंध है। जैसे पुरानी मदिरा अपने तरल रूप को छोड़कर गाढ़ी बन जाती है। पुराना गुड़ और पुराने तंदुल पिण्डीभूत हो जाते हैं।[101] इस प्रकार के बंध को भाजन बन्ध कहा जाता है।

परिणाम प्रत्ययिक बंध

यह सादि विस्रसा बंध का तीसरा प्रकार है। परिणाम का अर्थ है — रूपान्तरगमन।[102] परमाणु स्कन्धों का बादल आदि अनेक रूपों में परिणमन होता है, वह परिणाम-प्रत्ययिक बंध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये तीनों प्रकार के बंध पौद्गलिक हैं। इनमें बंधप्रत्ययिक मुख्य बंध परिलक्षित होता है, उसमें परमाणु का पारस्परिक सम्बन्ध नियम के आधार पर नियत है अन्यत्र ऐसा नहीं है।

बंध को आगमोत्तर साहित्य में पौद्गलिक माना गया है[103] जबकि भगवती में प्राप्त अनादि विस्रसा बंध धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय में प्राप्त है तथा सादि विस्रसा बंध पुद्गल का माना गया है।[104] प्रयोगबन्ध जीव के व्यापार से सम्बन्ध रखता है।[105] तत्त्वार्थसूत्र के 5/24 सूत्र के भाष्य में बंध को प्रयोग, विस्रसा एवं मिश्र के भेद से तीन प्रकार का कहा है[106] जिसको भगवती में पुद्गल का परिणाम कहा गया है[107] तथा बंध को प्रयोग एवं विस्रसा के भेद से दो प्रकार का बतलाया गया है।[108] तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति में विस्रसा बंध को सादि एवं अनादि उभय प्रकार का बतलाया है तथा अनादिविस्रसा बंध के उदाहरण के रूप में धर्म, अधर्म एवं आकाश का उल्लेख किया है।[109] यह स्पष्ट ही है कि ये पौद्गलिक नहीं है। पुद्गल के स्वभाव रूप में जिस बंध का तत्त्वार्थ आदि ग्रंथों में उल्लेख हुआ है उसको सादि विस्रसा बंध ही समझना चाहिए। बंध पांचों अस्तिकाय में ही किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध है, अत: उसको मात्र पौद्गलिक नहीं कहा जा सकता।

परमाणु की गति

जैन दर्शन के अनुसार जीव और पुद्गल — ये दो द्रव्य गतिशील हैं। इनमें तीव्रता से गति करने की शक्ति है। जिस प्रकार मुक्त जीव एक समय में लोकान्त तक पहुंच जाता है, उसी प्रकार परमाणु भी एक समय में लोक के एक छोर से दूसरे छोर पर जा सकता है।[110] धर्मास्तिकाय परमाणु को गति के लिए प्रेरित नहीं करता किंतु जब वह गति करता है तो उसका सहयोगी बनता है। परमाणु पुद्गल की गति का विमर्श आधुनिक विज्ञान के गति सिद्धान्त के संदर्भ में करणीय है।

सन्दर्भ—

1. तत्त्वोपप्लवसिंह (जयराशिकृत) (ले. जयराशि, वाराणसी 1987), पृ. 1
2. सांख्यकारिका, 3
3. वैशेषिक दर्शनम् (संपा. उदयवीर शास्त्री, गाजियाबाद, 1972) 1/1/5
4. अभिधर्मकोश (ले. आचार्य वसुबन्धु, इलाहाबाद, 1958) 1/124, पृ. 38
5. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4/10, मायां तु प्रकृतिं विद्या।
6. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 2/129
7. Sikdar, J.C., 1987, P.V. Research Institute, Varanasi-5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 2/129
9. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 2/129
10. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन दर्शन और अनेकान्त, पृ. 23
11. जैन सिद्धान्त दीपिका, 1/9, जीवपुद्गलयोर्विविधसंयोगैः स विविधरूपः।
12. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम, 5/25, अणवः स्कन्धाश्च।
13. ठाणं, 2/221-225
14. सभाष्यतत्त्वार्थधिगम, 5/27, भेदादणुः।
15. वही, 5/26, संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते।
16. नयचक्र (माइल्ल धवल), श्लोक 29 —
    जो खलू अणाइणिहणो, कारणरूवो हु कज्जरूवो वा।
    परमाणुपोग्गलाणं सो दव्व सहावपज्जाओ॥
17. अंगसुत्ताणि भाग-2 (भगवई), 5/510-153
18. वही, 5/150
19. वही, 5/151
20. ठाणं, 3/329
21. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 5/160
22. ठाणं, 3/329-335
23. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 20/37-38
24. वही, 5/160
25. प्रज्ञापनावृत्ति, प0 202-03, परमाणुर्हि अप्रदेशो गीयते, द्रव्यरूपतया सांशो न भवतीति..... कालभावाभ्यां सप्रदेशत्वेपि न कश्चिद् दोषः।
26. भगवतीवृत्ति, पत्र 241, यो द्रव्यतोऽप्रदेशः — परमाणुः स च क्षेत्रतो नियमादप्रदेशो, यस्मादसौ क्षेत्रस्यैकत्रैव प्रदेशेऽवगाहते प्रदेशद्वयाद्यवगाहे तु तस्याप्रदेशत्वमेव न स्यात्, कालतस्तु यद्यसावेकसमयस्थितिकस्तदाऽप्रदेशोऽनेक समयस्थितिकस्तु सप्रदेश इति, भावतः पुनर्यद्येकगुणकालकादिस्तदाऽप्रदेशोऽनेक-गुणकालकादिस्तु सप्रदेश इति।
27. अंगसुत्ताणि भाग 2 (भगवई), 20/41
28. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी वृत्ति, 5/1, पृ. 318-319,.....ननु प्रसिद्धमेवेदमेकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शश्चाणुर्भवति, भावावयवैः सावयवो द्रव्यावयवैर्निरवयव इति।
29. अंगसुत्ताणि भाग 2 (भगवई), 5/161-164

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

30. (क) अंगसुत्ताणि भाग 2 (भगवई) 5/205

(ख) भगवती वृत्ति, पत्र 241

31. अंगसुत्ताणि भाग 2 (भगवई), 14/49, परमाणुपोग्गले णं भंते! किं सासए? असासए? गोयमा! सिय सासए, सिय असासए।

32. वही, 14/50

33. वही, 5/169

34. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 5/169, परमाणुपोग्गले णं भंते! कालओ केवच्चिरं होइ? गोयमा! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं। एवं अणंतपएसिओ।

35. षट्खण्डागम, धवला, पु. 14, खण्ड-5, भा. 6, सू. 539, पृ. 450 तथा सूत्र 540, पृ. 451

36. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 5/172

37. वही, 8/467-469

38. भगवती वृत्ति, पृ. 420

39. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 5/157-158

40. वही, 5/159

41. अणुओगदाराइं, सूत्र 396, परमाणु दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-सुहुमे य वावहारिए य।

42. वही, सूत्र 398, वावहारिए — अणंताणं सुहुमपरमाणु-पोग्गलाणं समुदय-समिति-समागमेणं से एगे वावहारिए परमाणुपोग्गले निप्फज्जइ।

43. अनु.म.वृ.प. 148, ततोऽसौ निश्चयतः स्कन्धोऽपि व्यवहारनयमतेन व्यवहारिकः परमाणुरुक्तः।

44. भगवतीवृत्ति, पत्र 233, अत्थेगइए नो छिज्जेज्जत्ति सूक्ष्मपरिणामत्वात्।

45. (क) अणुओगदाराइं, सूत्र 398

(ख) अनु.म.वृ.प. 148, इदमुक्तं भवति-यद्यप्यनन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नाः काष्ठादयः शस्त्रछेदादिविषया दृष्टास्तथाप्यनन्तकस्याप्यनन्त भेदत्वात् तावत् प्रमाणेनैव परमाण्वनन्तकेन निष्पन्नोऽसौ व्यावहारिकः परमाणुर्ग्राह्यो यावत् प्रमाणेन निष्पन्नोद्यापि सूक्ष्मत्वान्नशस्त्रछेदादिविषयतामासादयतीतिभावः।

46. भगवई (खण्ड-2), पृ. 191, भाष्यसूत्र 5/154-159

47. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 1/401-406

48. वही, 1/401-403, 405-406

49. वही, 1/404

50. वही, 1/408

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

51. वही, 1/412
52. वही, 1/413
53. वही, 2/129
54. वही, 2/129
55. वही, 8/467, पंचविहे पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा — वण्णपरिणामे, गंधपरिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे, संठाणपरिणामे।
56. ठाणं, 4/135, चउव्विहे पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा — वण्णपरिणामे, गंधपरिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे।
57. तत्त्वार्थसूत्र, 5/23
58. वही, 5/24
59. तत्त्वार्थाधिगमभाष्यवृत्ति, 5/24, पृ. 364,.....स्पर्शादयः परमाणुषु स्कन्धेषु च,.....शब्दादयः पुनः स्कन्धविषया एव नाणुविषयाः।
60. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 18/111
61. वही, 20/26
62. वही, 18/111-117
63. वही, 20/27-36
64. वही, 20/27-35
65. वही, 20/36
66. वही, 18/174-176
67. वही, 18/177
68. वही, 18/178-179
69. वही, 8/1
70. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य वृत्ति, 5/24, पृ. 360, विस्रसा-स्वभावः प्रयोगनिरपेक्षो विस्रसाबन्धः।
71. भगवतीवृत्ति पत्र 328, जीवव्यापारेण शरीरादितया परिणताः।
72. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य वृत्ति, 5/24, पृ. 360, प्रयोगो जीवव्यापारस्तेन घटितो बंधः प्रायोगिकः।
73. तत्त्वार्थवार्तिक, 5/24, पृ. 487, प्रयोगः पुरुषाकायवाङ्मनसंयोगलक्षणः।
74. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य वृत्ति, 5/24, पृ. 360, प्रयोगाविस्रसाभ्यां जीवप्रयोगसहचरिताचेतनद्रव्य परिणतिलक्षणः स्तम्भकुम्भादिर्मिश्रः।
75. भगवती वृत्ति, पत्र 328, ...प्रयोगपरिणतेषु विस्रसा सत्यपि न विवक्षिता इति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

76. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य वृत्ति, 5/24, पृ. 360, चोभयमपि प्राधान्येन विवक्षितम्।
77. अवस्थी, नरेन्द्र, शाश्वत (जोधपुर, 1997), पृ. 214-215
78. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य वृत्ति, 5/24 पृ. 360, प्रयोगनिरपेक्षो विस्रसा बंधः।
79. भगवतीवृत्ति, पत्र 328 — 'पओगपरिणय त्ति जीव व्यापारेण शरीरादितया परिणताः'।
80. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 8/2-49
81. वही, 8/2-39
82. वही, 2/129, भावओ वण्णमंते गंधमंते, रसमंते, फासमंते।
83. वही, 8/2-39
84. तत्त्वार्थसूत्र, 8/3, वृत्ति, पृ. 128
85. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 8/32-39
86. वही, 8/2
87. वही, 8/40
88. उत्तरज्झयणाणि, 36/83, 105 आदि।
89. भगवई (खण्ड-2), 8/32-41 का भाष्य।
90. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 8/345, गोयमा! दुविहे बंधे पण्णत्ते, तं जहा — पयोगबंधे य वीससाबंधे य।
91. वही, 8/346
92. वही, 8/347
93. वही, 8/348
94. वही, 8/350
95. वही, 8/351
96. भगवतीवृत्ति, पत्र 395 —

समनिद्धनाए बन्धो न होइ समलुक्खयाए वि न होइ।
वेमायनिद्धलुक्खत्तणेणं बंधो उ खंधाणं॥

97. प्रज्ञापना, 13/21-22
98. भगवतीवृत्ति, पृ. 395 —

निद्धस्स निद्धेण दुयाहिएणं, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं।
निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो, जहन्नवज्जो विसमो समो वा॥

99. अवस्थी, नरेन्द्र, शाश्वत, पृ. 218-220

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

100. भगवतीवृत्ति, पत्र 395, भाजनं — आधारः।

101. वही, 395, तत्र जीर्णसुरायाः स्त्यानीभवनलक्षणो बन्धः, जीर्णगुडस्य जीर्णतन्दुलानां च पिण्डीभवनलक्षणः।

102. वही, 395, परिणामो — रूपान्तरगमनं।

103. सभाष्यतत्त्वार्थधिगम, 5/24

104. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 8/347, 350-351

105. तत्त्वार्थाधिगमभाष्यवृत्ति, 5/24, पृ. 360

106. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम, 5/24, बन्धस्त्रिविधः-प्रयोगबंधो, विस्रसाबंधो मिश्रबंधः।

107. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 8/1

108. वही, 8/345

109. तत्त्वार्थाधिगमभाष्यवृत्ति, 5/24, पृ. 360

110. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई) 16/116,.....परमाणुपोग्गले णं लोगस्स पुरत्थिमिल्लं तं चेव जाव उवरिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छति।

निदेशक
महादेवलाल सरावगी अनेकान्त शोधपीठ
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूँ-341 306 (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनयुोगद्वार सूत्र में नय विवेचना

—डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

अनुयोगद्वार सूत्र का मुख्य विषय चौदह अनुयोगद्वार है। यह आर्यरक्षित द्वारा रचित माना जाता है। विषय और भाषा की दृष्टि से यह सूत्र काफी अर्वाचीन मालूम होता है। इस पर भी जिनदासगणि महत्तर की चूर्णि तथा हरिभद्र और अभयदेव के शिष्य मलधारि हेमचन्द्र की टीकाएँ हैं। प्रश्नोत्तर की शैली में इसमें प्रमाणपल्योपम, सागरोपम, संख्यात, असंख्यात और अनन्त के प्रकार तथा निक्षेप, अनुगम और नय का प्ररूपण है। नाम के दस प्रकार, नव काव्य-रस और उनके उदाहरण, मिथ्याशास्त्र, स्वरों के नाम, स्थान, उनके लक्षण, ग्राम, मूर्च्छना आदि का वर्णन किया है।

वस्तुतः अनुयोगद्वार आवश्यक-सूत्र के सामायिक नामक प्रथम अध्ययन की टीका है। वहाँ यह कहा गया है कि सामायिक में उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय नामक अनुयोगद्वार हैं।[1] इनमें भी विशेषकर चार निक्षेपों पर बल दिया गया है। द्रव्य और भाव को क्रमशः बाह्यपक्ष और आन्तरिक पक्ष बतलाया गया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में नय सम्बन्धी विशद विवेचना है। अनुयोगद्वार सूत्र में ही प्रथम बार सातों नयों की पृथक्-पृथक् स्पष्ट परिभाषाएँ मिलती हैं। प्रत्येक नय की परिभाषाओं को उन नयों से सम्बंधित अध्यायों में वर्णित कर दिया गया है। इसके अलावा जो नयों के माध्यम से चर्चा की गयी है उसका वर्णन प्रस्तुत है।

अनुयोगद्वार में मुख्यतः नैगम, व्यवहार और संग्रहनय की चर्चा है। उदाहरणतः यह कहा गया है कि नैगम और व्यवहार नय की दृष्टि से द्रव्यावश्यक के दो भेद[2] हैं— 1. आगतोद्रव्यावश्यक, 2. नो आगमतो द्रव्यावश्यक।

1. आगमतोद्रव्यावश्यक—आगमोद्रव्यावश्यक को समझाते हुए अनुयोगद्वार में लिखा है कि जिसने आवश्यक यह पद सीख लिया, स्थिर कर लिया, चित्त (अर्थात् स्मृति के योग्य) कर लिया, मित (अर्थात् श्लोक आदि की संख्या से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्धारित कर लिया) परिचित कर लिया, घोष सम (अर्थात् सही उच्चारण युक्त) कर लिया, जिसे वह हीन अधिक और विपर्यस्त-अक्षर रहित, अस्खलित, अन्य वर्णों से अमिश्रित, अन्य ग्रंथ वाक्यों से अमिश्रित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्णघोषयुक्त, कण्ठ और होठ से निकला हुआ तथा जिसे गुरु की वाचना से प्राप्त किया जाता है, वह आवश्यक-पद के अध्यापन, प्रश्न, परावर्तन और धर्मकथा में प्रवृत्त होता है तब आगमत: द्रव्यावश्यक है। वह अनुप्रेक्षा (अर्थ के अनु चिन्तन) में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि द्रव्यनिक्षेप अनुपयोग (अर्थात् चित्त की प्रवृत्ति से शून्य) होता है।[3]

सारांश यह है कि जो आगम को जानता है किन्तु तत्सम्बन्धी ज्ञान का वर्तमान में उपयोग नहीं कर रहा वह आगम तो द्रव्यावश्यक है। विशेषावश्यक भाष्य में इसे उदाहरण देकर इस प्रकार समझाया गया है — एक पुरुष मंगल शब्द के अर्थ को जानता है और मंगल शब्द से अनुवासित है किन्तु मंगल शब्द के अर्थ में उपयुक्त (अर्थात् दत्तचित्त) नहीं है, वह आगम-ज्ञान की अपेक्षा द्रव्यमंगल है।[4]

2. नोआगमतोद्रव्यावश्यक — नो आगमत: द्रव्यावश्यक के तीन प्रकार हैं[5] —

1. ज्ञ शरीर-द्रव्य-आवश्यक[6]
2. भव्य-शरीर-द्रव्य-आवश्यक[7]
3. ज्ञ शरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्त द्रव्य आवश्यक[8]

विशेषावश्यक भाष्य में इसे उदाहरण देकर इस प्रकार समझाया है — मंगल शब्द के अर्थ को जानने वाला पुरुष का मृतशरीर मंगल शब्द के अर्थ का ज्ञाता नहीं रहता, इसलिए वह ज्ञान के अभाव की अपेक्षा द्रव्यमंगल है। 'नौ' शब्द का प्रयोग सर्वनिषेध और देश-निषेध दोनों में होता है। वहाँ इसके दोनों अर्थ घटित हो सकते हैं।[9]

यहाँ द्रव्यनिक्षेप के आगमत: ज्ञानात्मक पक्ष पर सात नयों से विचार किया गया है — **नैगमनय** का विषय सामान्य और विशेष दोनों है, इसलिए उसके अनुसार द्रव्यावश्यक एक, दो, तीन यावत् लाख करोड़ कितने ही हो सकते हैं, जितने अनुपयुक्त हैं, वे सब द्रव्यावश्यक हैं। **व्यवहार नय** का विषय है विशेष अथवा भेद। यह लोक व्यवहार को मान्य करता है, इसलिए इसमें भी नैगम-नय की भांति द्रव्यावश्यक की संख्या का निर्देश किया जा सकता है। **संग्रह-नय** का विषय है — सामान्य। इसलिए उसमें द्रव्यावश्यक का राशिकरण हो सकता है, जैसे एक द्रव्यावश्यक और अनेक द्रव्यावश्यकों की राशि। **ऋजुसूत्र** का विषय है पर्याय। इसलिए उसके अनुसार एक अनुपयुक्त व्यक्ति आगमत: द्रव्यावश्यक है, बहुवचन इसे मान्य नहीं है। तीनों शब्द नयों का विषय है — शब्द। उसके अनुसार कोई व्यक्ति जानता है और उपयुक्त नहीं है — ऐसा हो नहीं सकता। अत: इसे आगमत: द्रव्यावश्यक नहीं है।[10]

अनुयोगद्वार सूत्र में शंख की तीन स्थितियों का वर्णन है। वहां प्रश्न पूछा गया है कि ज्ञशरीर, भव्यशरीर, व्यतिरिक्त, द्रव्य-शंख क्या है? उत्तर में कहते हैं कि वह 'ज्ञ' शरीर, भव्यशरीर, व्यतिरिक्त, द्रव्य-शंख के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं[11] —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. एक-भविक
2. बद्धायुष्क
3. अभिमुखनामगोत्र

1. एकभविक — जो जीव वर्तमान जीवन पूरा कर अगले भव में शंख रूप में उत्पन्न होगा, वह शंखत्व का आयुष्य न बंधने पर भी एक भविक शंख कहलाता है। शंख भव की प्राप्ति के बीच में एक वर्तमान भव है, इस अपेक्षा से उसे एकभविक कहा गया है। एक भविक की काल सीमा के बारे में लिखा है कि जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टत: करोड़ पूर्व तक एकभविक रहता है। जो जीव पृथ्वी आदि के भव में अन्तर्मुहूर्त्त जीकर अनन्तर भव में शंख बनता है, वह अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाला एक भविक शंख होता है जो जीव मत्स्य आदि किसी भव में पूर्व कोटि जीकर फिर शंख के रूप में उत्पन्न होता है वह पूर्वकोटि की आयु वाला एक भविक शंख है।[12]

2. बद्धायुष्क — जिस जीव ने शंख (द्वीन्द्रिय जंतु) का आयुष्य बांध लिया है पर अभी उस जीवन में उत्पन्न नहीं हुआ है, वह बद्धायुष्क कहलाता है। बद्धायुष्क की काल सीमा के बारे में लिखा है कि बद्धायुष्क जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टत: करोड़ पूर्व का तिहाई भाग तब बद्धायुष्क रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्तमान आयुष्क का एक तिहाई भाग शेष रहता है तब आयुष्क का बंध होता है, इसलिए उत्कृष्ट स्थिति पूर्व कोटि त्रिभाग बतलाई गई है।[13]

3. अभिमुख नामगोत्र — शंख भव प्राप्त जीवों के जघन्यत: एक समय और उत्कृष्टत: अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् द्वीन्द्रिय जाति नाम और नीच गोत्र कर्म उदय में आते हैं। जब तक इनका उदय नहीं होता है, वे जीव अभिमुखनामगोत्र कहलाते हैं। अभिमुखनामगोत्र कला जघन्यत: एक समय और उत्कृष्टत: अन्तर्मुहूर्त्त तक अभिमुखनाम गोत्र वाला रहता है। अभिमुखनाम गोत्रता भावी जन्म की अत्यन्त निकटता में होती है, इसीलिए इसकी स्थिति उपरोक्त प्रकार से की गयी है।[14]

इन तीनों स्थितियों के संबंध में कहा गया है कि नैगम, व्यवहार और संग्रह की दृष्टि से इन तीनों ही स्थितियों के लिए शंख शब्द का प्रयोग हो सकता है। नैगमनय और व्यवहारनय लोक व्यवहार को मान्य करते हैं तथा अशुद्ध संग्रहनय भी नैगमनय और व्यवहारनय का अनुसरण करता है, इसलिए ये तीनों प्रकार के शंख को मान्य करते हैं।[15]

ऋजुसूत्र नय को द्विविधि शंख इष्ट है। जैसे बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र वाला।[16] आर्यमंगु ने भी तीन प्रकार के शंख माने हैं। ऋजुसूत्रनय के अभिप्राय से अतिप्रसंग का निवारण करने के लिए आर्य समुद्र दो प्रकार के शंख को मान्य करते हैं।[17] तीनों शब्द नय शुद्धतर होने के कारण केवल एक ही शंख को स्वीकृत करते हैं, आर्य सुहस्ती का भी यही मत है।[18]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुयोगद्वार में नय की चर्चा नय प्रमाण के रूप में हुई है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार यहां प्रमाण का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि आर्यरक्षित के काल में नय को प्रमाण का अंश मानने का सिद्धान्त स्थापित नहीं हुआ था, क्योंकि उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों ने नय को प्रमाण नहीं माना बल्कि उसको अंश स्वीकार किया है।[19] वे मानते हैं कि प्रमाण का विषय है — अनन्तधर्मात्मक अखण्ड वस्तु और नय का विषय है उसका एक धर्म। एक दृष्टि से नय न प्रमाण है और न अप्रमाण है, किन्तु प्रमाणांश है।[20]

नय प्रमाण को समझाने के लिए अनुयोगद्वार में तीन दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं।[21]

1. प्रस्थक दृष्टान्त

2. वसति दृष्टान्त

3. प्रदेश दृष्टान्त

1. प्रस्थक दृष्टान्त — यहां प्रस्थक (अनाज नापने का पात्र) के माध्यम से नैगमादि नयों को समझाने का प्रयास किया गया है। नैगम नय को समझाने के लिए प्रस्थक दृष्टान्त का प्रयोग परवर्ती दार्शनिकों ने भी बहुत किया है। जिनभद्रगणी ने नैगमनय के प्रकारों की व्याख्या में निलयन, प्रस्थक और ग्राम — इन तीन दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।[22]

आचार्य विद्यानन्दजी ने प्रस्थ के संकल्प को नैगम नय का विषय बताया है।[23] माइल्लधवले ने अप्रस्थ को प्रस्थ कहने वाले को भावी नैगम का विषय बताया है।[24] अनुयोगद्वार में नैगमादि नयों को प्रस्थक के माध्यम से निम्न प्रकार से समझाया है —

1. नैगमनय — नैगमनय की दृष्टि से प्रस्थक पर विचार करते समय सूत्रकार ने नैगमनय के तीन प्रकारों — अविशुद्ध, विशुद्ध और विशुद्धतर का उल्लेख किया है। कोई व्यक्ति प्रस्थक निर्माण हेतु काष्ठ लाने के लिए जंगल में जाता है। काष्ठ कारण है और प्रस्थक कार्य है। कारण में कार्य का उपचार करने से वह कहता है — मैं प्रस्थक के लिए जाता हूँ। यह 'अविशुद्ध नैगमनय है।'[25] काष्ठ काटते समय "मैं प्रस्थक काट रहा हूँ" — यह निरूपण विशुद्ध नैगमनय का है। यहाँ भी कारण में कार्य का उपचार है। अविशुद्ध नैगमनय में गमन क्रिया और प्रस्थक में अतिव्यवधान है। इसलिए उसे अविशुद्ध माना गया है। काष्ठ-कर्तन और प्रस्थक में कुछ निकटता है, इसीलिए उसे "विशुद्धनय" माना है। काष्ठ को तरासना, उकेरना और प्रमार्जित करना प्रस्थक निर्माण क्रिया के ही अंग हैं। इन क्रियाओं से प्रस्थक का अति नैकट्य होने के कारण इसे "विशुद्धतरनय" की दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है।[27]

नैगमनय के उक्त तीनों भेदों का आधार प्रस्थक निर्माण की दूरी और निकटता है। प्रथम क्रिया में केवल प्रस्थक का संकल्प है। दूसरी में प्रस्थक के उपादान का ग्रहण है और तीसरी क्रिया में प्रस्थक का निर्माण किया जा रहा है। इस प्रकार जैसे-जैसे निर्माण का व्यवधान कम होता जाता है वैसे-वैसे दृष्टिकोण विशुद्ध होता जाता है।[28]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. व्यवहार-नय — व्यवहार नय लोक-व्यवहार को मान्य करता है, इसलिए इसका दृष्टिकोण नैगमनय के समान ही है।[29]

3. संग्रह-नय — संग्रहनय नैगम और व्यवहार नय से विशुद्धतर है। इसके अनुसार चित्त (धान्य से व्याप्त), मित (धान्य से परिपूर्ण) और मेय-समारूढ़ (मेय से युक्त अर्थात् जिसे नापा जा रहा है उससे युक्त) प्रस्थक को प्रस्थक कहा जाता है।[30] संग्रह नय विशेष को मान्य नहीं करता, इसलिए उसमें अर्थक्रियाकारित्व-काल की अवस्था वाला प्रस्थक ही प्रस्थक है।[31]

4. ऋजुसूत्रनय — ऋजुसूत्रनय पर्याय को ग्रहण करता है। यह स्वरूप की निष्पत्ति के बाद अपनी क्रिया में हेतुभूत प्रस्थक को भी प्रस्थक मानता है और उसके द्वारा मापे गए धान्य आदि को भी प्रस्थक मानता है।[32] व्यवहार में प्रस्थक उसके द्वारा मापी गई वस्तु दोनों के लिए प्रस्थक शब्द का प्रयोग इष्ट है। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में अतीत नष्ट और अनागत अनुत्पन्न होने से असत् होते हैं।[33] यह वर्तमानग्राही होने के कारण संग्रह नय की अपेक्षा विशुद्धतर है। जयधवला के अनुसार जिस समय धान्य मापा जाता है उस समय प्रस्थक को प्रस्थक कहा जाता है।[34]

5. शब्दनय — शब्दनय भव प्रधान होता है, इसलिए तीन शब्द नय (शब्द, समभिरूढ़ व एवंभूत) प्रस्थक के अर्थाधिकार को जानने वाले व्यक्ति को प्रस्थक मानते हैं।[35] इसके अनुसार प्रस्थक के अर्थ का ज्ञाता ही वास्तव में प्रस्थक कहलाता है। प्रस्थक प्रमाण के दो नियम हैं — 1. प्रस्थक के अर्थ का ज्ञान होना और 2. प्रस्थक के अर्थ में उपयुक्त (दत्तचित्त) होना। इन दोनों नियमों का अनुसरण किए बिना मानात्मक प्रस्थक निष्पन्न नहीं होता, अतः प्रस्थक का ज्ञाता और उसमें उपयुक्त व्यक्ति ही प्रस्थक होता है।[36] शब्दनयत्रयी के अनुसार सब वस्तु अपनी आत्मा में है, बाह्य जगत में नहीं, जैसे — जीव में चेतना। प्रस्थक प्रमाण है, प्रमाण नियमतः ज्ञात होता है, इसलिए काष्ठ पात्र प्रस्थक नहीं हो सकता। अतः प्रस्थक का ज्ञान और उपयोग ही वास्तव में प्रस्थक है।[37] जिनभद्रगणी ने शब्दनयत्रयी के अभिप्राय पर विस्तार से विमर्श किया है। उनके अनुसार जो मान है वह प्रमाण है। प्रमाण परिच्छेदात्मक होता है और वह जीव का स्वभाव है, वह जीव से भिन्न नहीं होता, अतः काष्ठ पात्र-प्रमाण नहीं हो सकता।[38] आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार शब्दनयत्रयी के अभिप्राय की बौद्धों के विज्ञान द्वैत और वेदान्त के ब्रह्मद्वैतवाद और प्रत्ययवाद की अवधारणा से तुलना की जा सकती है।[39]

2. वसति दृष्टान्त — वसति दृष्टान्त के माध्यम से नैगमादि नयों को निम्न प्रकार से समझाया है —

1. नैगमनय —

वसति के प्रसंग में नैगम नय के आठ विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. मैं लोक में रहता हूँ। यह वक्तव्यता सत्य है, क्योंकि उत्तरदाता का निवास स्थान में ही है किन्तु यह दृष्टिकोण वास्तविक वसति से बहुत दूर है, इसलिए यह अविशुद्ध दृष्टिकोण है।[40]

2. 'मैं तिर्यग्लोक में रहता हूँ।' यह वास्तविक वसति से कुछ निकट है, इसलिए यह विशुद्धदृष्टिकोण है।[41]

3. 'मैं जम्बू द्वीप में रहता हूँ।' यह वास्तविक वसति से और अधिक निकटतर है, इसलिए यह विशुद्धतर दृष्टिकोण है।[42]

इसी प्रकारण क्रमशः भारतवर्ष, दक्षिणार्ध-भरत, पाटलिपुत्र, देवदत्तगृह और गर्भगृह में क्रमशः वास्तविक वसति की निकटता बढ़ती जाती है और उत्तरोत्तर विशुद्धता भी बढ़ती जाती है।[43]

2. व्यवहारनय—

व्यवहार नय का वक्तव्य भी नैगमनय के समान है।[44]

3. संग्रहनय—संग्रहनय निर्विकल्प होता है, इसलिए उसके दृष्टिकोण से उत्तरदाता कहता है कि मैं बिछौने पर रहता हूँ।[45]

4. ऋजुसूत्रनय—मैं जिन आकाश प्रदेशों में अवगाढ़ हूँ, वहाँ रहता हूँ—यह ऋजुसूत्रनय का दृष्टिकोण है।[46]

5. शब्दनयत्रयी—मैं आत्म स्वरूप में रहता हूँ। वास्तव में प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप में ही रहता है। इसलिए शब्दनयत्रयी का दृष्टिकोण वास्तविक वसति का दृष्टिकोण है।[47]

3. प्रदेशदृष्टान्त—

प्रकृष्ट देश का नाम प्रदेश है। निरंश देश, निर्विभागी भाग, अविभागी परिच्छेद—ये प्रदेश के पर्यायवाची शब्द हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और एक जीव, ये अखण्ड द्रव्य हैं। देश उसका कल्पित भाग है तथा प्रदेश उसका परमाणु जितना भाग है। अनुयोग द्वार में नैगमादि नयों को प्रदेश दृष्टान्त के माध्यम से निम्न प्रकार समझा गया है—

1. नैगमनय—नैगमनय सामान्य और विशेष दोनों को मान्य करता है, इसलिए धर्म आदि छहों के प्रदेश स्वीकृत करता है।[48]

2. संग्रहनय—संग्रहनय के अनुसार देश कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, इसलिए वह "देश का प्रदेश" इस विकल्प को स्वीकार नहीं करता। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों से सम्बन्धित देश का जो प्रदेश है वह उन द्रव्यों का ही प्रदेश है, क्योंकि वह देश उससे भिन्न नहीं है। इसलिए छहों का प्रदेश नहीं होता। पांचों का होता है। "पांचों का प्रदेश" यह संग्रहनय की स्वीकृति है।[49]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. व्यवहारनय — व्यवहारनय कहता है — एक ही प्रदेश पांचों द्रव्यों से सम्बन्धित हो तब यह कथन उचित हो सकता है। जैसे पांच भाइयों का सोना, घर, बगीचा आदि। यहाँ पाँचों द्रव्यों के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए द्रव्य और लक्षण की संख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रदेश पांच प्रकार के होते हैं।[50]

4. ऋजुसूत्रनय — व्यवहार नय के अभिमत से अपनी असहमति व्यक्त करता हुआ ऋजुसूत्रनय कहता है — पाँच प्रकार का प्रदेश मानने से उसके पच्चीस भेद हो जायेंगे। प्रत्येक प्रदेश के पाँच प्रकार पाँच द्रव्य प्रदेशों से गुणित होने पर पच्चीस होते हैं। इसलिए यह कहना उचित होगा कि प्रदेश धर्म आदि पाँच विभागों से विकल्पनीय है। इस प्रकार मानने से प्रदेश के पाँच भेद घटित हो जाते हैं।51

5. शब्दनय — प्रदेश की विकल्प स्वीकृति पर आपत्ति करता हुआ शब्दनय कहता है — विकल्प की स्थिति में धर्मास्तिकाय का प्रदेश अधर्मास्तिकाय का हो जायेगा। अधर्मास्तिकाय का प्रदेश धमास्तिकाय का हो जायेगा। जैसे कोई व्यक्ति कभी राजा का सेवक हो जाता है तो कभी अमात्य हो जाता है। नियत व्यवस्था के अभाव में प्रदेश के साथ भी यही घटित होगा। इसलिए अनवस्था के प्रसंग को टालने के लिए यह मानना उचित है कि जो धर्मात्मक प्रदेश है — धर्मास्तिकाय से अभिन्न प्रदेश है वह प्रदेश धर्म है। इसी प्रकार अधर्म और आकाश का प्रदेश है। जीव और स्कन्ध संख्या में अनन्त हैं। इनका प्रदेश जीवत्व और स्कन्धत्व से अभिन्न न होने के कारण जीवात्मक प्रदेश नो जीव हैं, स्कन्धात्मक प्रदेश नो स्कन्ध हैं। यहाँ ''नौ'' शब्द देशवाचक है। एक जीव का प्रदेश सकल जीव में व्याप्त नहीं है, इसलिए वह उसके एक भाग में है अर्थात् जीव का एक देश है।[52]

(6) समभिरूढ़नय — धर्म-प्रदेश शब्द में दो समास संभावित हैं — ''धर्म प्रदेशः'' इस विग्रह वाक्य में तत्पुरुष समास होता है, जैसे — हस्ती, तीर्थे काकः यह सप्तमी तत्पुरुष समास है। यदि विग्रह वाक्य में प्रथमा विभक्ति की विवक्षा करते हैं, जैसे — ''धर्मश्चासौ प्रदेशश्च'' तो कर्मधारय समास होता है, जैसे नीलं च तद् उत्पलं च तद्।

तत्पुरुष समास भेद और अभेद दोनों में होता है। जैसे — कुण्डे बदराणि, घटे रूपम्, राज्ञः पुरुषः, राज्ञः शरीरम्। कुण्डे बदराणि, राज्ञः पुरुषः भेदपरक समास है। घटे रूपम् और राज्ञः शरीरम् अभेदपरक है। धर्मे-प्रदेशः इसमें तत्पुरुष समास होने से भेद और अभेद का सन्देह हो सकता है। इसलिए समभिरूढ़नय विशेषण सहित कर्मधारय को स्वीकार करता है।[53]

(7) **एवंभूत का अभिमत है** — द्रव्य अखण्ड होता है। उसमें देश और प्रदेश की कल्पना करना व्यर्थ है। इसलिए देश भी अवास्तविक है। प्रदेश भी अवास्तविक है।[54]

इस प्रकार अनुयोगद्वार में विषय-प्रवर्तन में नयों का सहारा लिया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्कर्ष—अनुयोगद्वार सूत्र में नय का विषय इससे पूर्व के प्राचीन आगम ग्रन्थों कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती इत्यादि की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है। यद्यपि इन आगमों में सम्पूर्ण विषय का प्रतिपादन नयों के माध्यम से ही किया गया है और अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर विषय को उसमें लिया है किन्तु इन सभी में जिस शैली का प्रयोग हुआ है वह नय के प्रति जिज्ञासा और अधिक इसलिए बढ़ाती है, क्योंकि इनकी विधा अपने आप में अलग है। आगे के आचार्यों ने विशेषकर दर्शन युग के आचार्यों ने जिस तरह से नय को लिया है, वह अलग प्रकार है।

इस ग्रन्थ के विवेचन से यह स्पष्ट हो रहा है कि द्रव्य और वस्तु की विचारणा के अनेक मार्ग हैं। वह विचारणा कभी स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर तथा कभी अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर होती है। द्रव्य के अनेक पर्याय हैं। स्थूल विचार के द्वारा स्थूल पर्याय, सूक्ष्म विचार के द्वारा सूक्ष्म पर्याय और सूक्ष्मतर विचार के द्वारा सूक्ष्मतर पर्याय का ग्रहण होता है। स्थूल विचार को सापेक्ष दृष्टि से अशुद्ध, सूक्ष्म विचार को सापेक्ष दृष्टि से शुद्ध और सूक्ष्मतर विचार को सापेक्ष दृष्टि से शुद्धतर कहा जाता है।[55]

नैगमनय की दृष्टि में प्रस्थक का संकलन भी प्रस्थक है, प्रस्थक का निर्माण भी प्रस्थक है किन्तु तीन शब्द नयों की दृष्टि से प्रस्थक कोई काष्ठ पात्र नहीं है, वह प्रस्थक का ज्ञान और उपयोग है। इस दृष्टान्त का तात्पर्य है कि ज्ञेय एक अवस्था में ज्ञाता से भिन्न होता है और एक अवस्था में ज्ञाता से अभिन्न हो जाता है। इस अनेकान्तात्मक दृष्टि से ही वस्तु को समग्र दृष्टिकोण से जाना जा सकता है।[56]

अनुयोगद्वार में वसति दृष्टान्त के द्वारा आधार और आधेय की मीमांसा की गई है। शब्दनयत्रयी के अनुसार सब द्रव्य निरालम्ब अथवा स्वप्रतिष्ठ होते हैं। किसी द्रव्य के लिए आधार आवश्यक नहीं होता। नैगमनय की दृष्टि में आधार और आधेय का संबंध आवश्यक है। इसलिए आधारभूमि के अनेक विकल्प किए गए हैं।[57]

प्रदेश दृष्टान्त में अवयव और अवयवी के संबंध की मीमांसा की गयी है। एवंभूतनय द्रव्य के अवयवों को अस्वीकार करता है। नैगमनय अवयव और अवयवी के संबंध को मान्य करता है। इस प्रकार नय वस्तु के विभिन्न धर्मों और विभिन्न नियमों को सापेक्ष दृष्टि से जानने की प्रक्रिया है।[58]

अनुयोगद्वार में तीन दृष्टान्तों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये जा सकते हैं। विभिन्न दार्शनिकों के अभ्युपगमों को समझाने के लिए यह विधा बहुत उपयोगी है। यदि नय पद्धति से दार्शनिक अध्ययन की परम्परा रहे तो खण्डन-मण्डन की विधि स्वयमेव समाप्त हो सकती है।

डॉ. के.के. दीक्षित ने यहां हमारा ध्यान कुछ कठिनाइयों की ओर दिलाया है। प्रथम कठिनाई यह है कि नैगम और व्यवहार को अनेक स्थानों पर एक ही मान लिया गया है। ऐसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति में यदि ये दोनों संग्रह की अपेक्षा अल्पतर क्षेत्र वाली हैं तो हम यह नहीं कह सकते हैं कि संग्रह नैगम की अपेक्षा अल्पतर क्षेत्र वाला है। इसके अतिरिक्त एक और भी कठिनाई है कि तीनों शब्दनय प्रारम्भिक चार नयों वाले के ही स्तर की हैं किन्तु वे भिन्न-भिन्न स्तर की बातें करती हैं। कहीं-कहीं प्रारम्भिक चार नयों का संबंध वस्तु से जोड़ा गया है जबकि शब्दनय का संबंध उन व्यक्तियों से जोड़ा है जो उन वस्तुओं को जानते हैं। इतना स्पष्ट है कि अनुयोगद्वार में शब्दनयों का वह स्वरूप नहीं है जो बाद के लेखकों में है। अन्त में अवश्य शब्दनयों का स्वरूप परवर्ती लेखकों के समान ही दिया गया है किन्तु मूलभूत कठिनाई यह है कि अनुयोगद्वार में दिये गये उदाहरण नयों के दिये गये उदाहरण से मेल नहीं खाते।[59]

संदर्भ—

1. अणुओगदाराइं, संपादक-विवेचक — आचार्य महाप्रज्ञ, तीसरा प्रकरण, सूत्र-75, पृ. 63, प्रकाशक — जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ, प्रथम संस्करण, 1996
2. अणुओगदाराइं, प्रथम प्रकरण, सूत्र-12, पृ. 17
3. अणुओगदाराइं, पहला प्रकरण, सूत्र-13, पृ. 7
4. आगमओडगुणउत्तो मंगलसद्दाणुवासिओ वत्ता।
   तन्नाणलद्धिसहिओ वि वोवउत्तो त्ति तो दव्वं॥ — विशेषावश्यक भाष्य, गाथा-29
5. अणुओगदाराइं, पहला प्रकरण, सूत्र-15, पृ. 8
6. अर्थात् ऐसे व्यक्ति का मृत शरीर जो पहले आवश्यक को जानता था पर वर्तमान में ज्ञानशून्य है।
7. अर्थात् ऐसा नवीन उत्पन्न होने वाला शरीर जो भविष्य में आवश्यक को जानेगा पर वर्तमान में ज्ञानशून्य है।
8. इसके भी लौकिक, कुप्रावचनिक और लौकोत्तरिक यह तीन भेद किये हैं। जाणगसरीर-भवियसरीर-वतिरित्तं दव्वावस्सयं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा-लोइयं कुप्पावयणियं लोगुत्तरियं॥
   — वही, सूत्र-18, पृ. 9
9. विशेषावश्यक भाष्य गाथा-44, 45
10. अणुओगदाराइं, पहला प्रकरण, सूत्र-14, पृ. 8
    अपि च, तुलनीय, आचार्य महाप्रज्ञ का विवेचन, टिप्पण-सूत्र-14, पृ. 27
11. अणुओगदाराइं, ग्यारहवां प्रकरण, सूत्र-568, पृ. 307
12. वही, सूत्र-568, पृ. 325
13. वही, सूत्र-568, पृ. 325-26
14. वही, ग्यारहवां प्रकरण, सूत्र-568, पृ. 307, अपि च, तुलनीय, आचार्य महाप्रज्ञ का विवेचन, पृ. 326
15. वही, पृ. 326
16. वही, उज्जुसुओ दुविहं संखं इच्छइ, तं जहा-बद्धाउयं च अभिमुहनामगोत्तं च।
17. बृहत्कल्पभाष्य (चूर्णिसहित), पृ. 44, सं.-चतुरविजयपुण्यविजय, प्रका.-श्री जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर, 1933
18. वही, अपि च, तुलनीय, आचार्य महाप्रज्ञ का विवेचन, पृ. 326

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

19. अणुओगदाराइं, टिप्पण, पृ. 32
20. नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
स्यात्प्रमाणेकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः॥
नय विवरण — आचार्य विद्यानन्द
(माइल्लधवलकृत णच्चक्को, संपा-पं. कैलाशचन्दशास्त्री का परिशिष्ट)
21. अणुओगदाराइं, ग्यारहवां प्रकरण सूत्र-554, पृ. 299-300
22. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा-2187, 2188, पृ. 448-449
23. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सूत्र 1/33, श्लोक 18, 19, पृ. 230-231
24. णयचक्को-माइल्लधवल, गाथा-205, पृ. 111
25-32. अणुओगदाराइं, ग्यारहवां प्रकरण, सूत्र-555, पृ. 300
33. अनुयोगद्वारटीका, पृ. 105
34. कषायपाहुड-जयधवला टीका, पृ. 224, 225
35. अणुओगदाराइं, वही, सूत्र-555, पृ. 300
36. अनुयोगद्वार टीका, पृ. 106
37. वही, पृ. 106
38. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा-2243-2246
39. अणुओगदाराइं, टिप्पण, पृ. 323
40. अणुओगदाराइं, वही, सूत्र-556, पृ. 301
41-47. वही, अणुओगदाराइं, वही, सूत्र-556, पृ. 301
48. वही, सूत्र-557, पृ. 302
49. वही, सूत्र-557, पृ. 302
50. वही, पृ. 302, 303
51. अणुओगदाराइं, ग्यारहवां प्रकरण, सूत्र-557, पृ. 303
अपि च, तुलनीय, आचार्य महाप्रज्ञ विवेचन, टिप्पण, पृ. 323, 324
52. वही, पृ. 303, 304
अपि च, तुलनीय, अणुओगदाराइं, आचार्य महाप्रज्ञ का विवेचन, टिप्पण, पृ. 324
53. वही, सूत्र-557, पृ. 304
54. वही, सूत्र-557, पृ. 304
55-58. तुलनीय, अणुओगदाराइं, आचार्य महाप्रज्ञ का टिप्पण, पृ. 324
59. Jainontology, Dr. K.K. Dixit, Chapter-II, P.-70

प्रवक्ता
दर्शन संकाय, लाल बहादुर शास्त्री
राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ
(मान्य विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली -16

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन कर्म सिद्धान्त में अनेकान्त

—डॉ. अशोक कुमार जैन

भारतीय दर्शनों में कर्मवाद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। दृष्ट साधनों में समानता होते हुए भी फल के तारतम्य में अन्तर परिलक्षित होता है उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना', सांख्य क्लेश, न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट', मीमांसक अपूर्व तथा जैन 'कर्म' कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार 'अदृष्ट' आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह 'अदृष्ट' है। जब तक उसका फल नहीं मिल पाता, तब तक आत्मा के साथ रहता है, उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है।[1] कारण कि यदि ईश्वर कर्म फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जायें। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है।[2] अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत संस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है।[3] मीमांसकों के अनुसार योगादिक्रियाओं से उत्पन्न होने वाले अपूर्व[4] का आश्रय आत्मा होता है। वह अपूर्व स्वर्ग की अंकुरावस्था है और वही परिपाक-काल में स्वर्गरूप हो जाती है।

जैनदर्शन में कर्म सिद्धान्त का अत्यन्त सूक्ष्म रूप से विशद वर्णन प्राप्त होता है। कर्म का मुख्य अर्थ क्रिया है। क्रिया अनेक प्रकार की होती है। हंसना, खेलना, उठना, बैठना, आना-जाना आदि ये सब क्रियायें हैं। क्रिया जड़ और चेतन दोनों में पाई जाती है। कर्म का सम्बन्ध आत्मा से है, अत: केवल जड़ की क्रिया यहाँ विवक्षित नहीं है। शुद्ध जीव निष्क्रिय है। वह सदा आकाश के समान निर्लेप और भित्ती में उत्कीर्ण किये गये चित्र के समान निष्कम्प रहता है। यद्यपि जैन दर्शन में जड़, चेतन सभी पदार्थों को उत्पाद, व्यय और धौव्य स्वभाव वाला माना गया है। यह स्वभाव सभी शुद्ध और अशुद्ध सब पदार्थों में पाया जाता है किन्तु यहाँ क्रिया का अर्थ परिस्पन्द लिया है। परिस्पन्दात्मक क्रिया सब पदार्थों की नहीं होती। वह पुद्गल और संसारी जीव के ही पायी जाती है। इसलिए प्रकृति में कर्म का अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारी जीव की क्रिया लिया गया है। भाव यह है कि संसारी जीव के प्रति समय परिस्पन्दात्मक जो भी क्रिया होती है वह कर्म कहलाती है। प्रवचनसार के टीकाकार अमृतचन्दसूरि ने लिखा है-'किया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित प्राप्त परिणाम: पुद्गलोपि कर्म'[5] अर्थात् आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से क्रिया को कर्म कहते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र है। सबको समान रूप से विकास करने की स्वतंत्रता है परन्तु जीवन के कुछ प्रसंगों में किंचित् असफलता प्राप्त होने पर हम कर्म को दोष देने लगते हैं। ''करम गति टाली नाहिं टलै'', ''विधि का विधान'' ''भवितव्यता अमिट है'', ''भाग्यं फलति सर्वत्र'' इत्यादि वाक्यों के माध्यम से अपने आप को निराश कर जीवन को दु:खद बनाते हैं। हमें कर्मवाद में एकान्तिक मान्यताओं को छोड़कर अनेकान्त के आलोक में विमर्श की अपेक्षा है अन्यथा अनेक विसंगतियां उत्पन्न हो जायेगीं। जैन कर्मवाद के कुछ प्रमुख तथ्यों पर अनेकान्त के सन्दर्भ में हम प्रकाश डाल रहे हैं।

1. कर्म का जीव से कथंचित अनादित्व और सादित्व — तत्वार्थ सूत्र में लिखा है, ''अनादि सम्बन्धे च''[6] अर्थात् ये दोनों तैजस और कार्मण शरीर अनादिकाल से जीव के साथ हैं। सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द विकल्प अर्थ में है। **आचार्य अकलङ्क** जीव और कर्म के सम्बन्ध में लिखते हैं — बंध सन्तति की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है और विशेषत: बीज वृक्ष के समान सादि सम्बंध है। जैसे वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है और बीज दूसरे वृक्ष से उत्पन्न होता है तथा यह वृक्ष दूसरे बीज से उत्पन्न हुआ था इस प्रकार बीज और वृक्ष का कार्य-कारण सम्बंध सामान्यापेक्षया अनादि है। इस बीज से यह वृक्ष हुआ और इस वृक्ष से यह बीज इस विशेष की अपेक्षा से सादि है अर्थात् सन्तति की दृष्टि से बीज वृक्ष अनादि होकर भी तद्बीज और तद्वृक्ष की अपेक्षा सादि है।

एकान्त से अनादिमान् ही स्वीकार कर लेने पर निर्निमित्तक होने से नवीन शरीर के सम्बन्ध का अभाव हो जायेगा। जिनके सिद्धान्त में एकान्त से तैजस, कार्मण शरीर का अनादि सम्बंध है-उनके सिद्धान्त में पूर्व में ही आत्यन्तिकी शुद्धि को धारण करने वाले जीव के नूतन शरीर का सम्बन्ध ही नहीं हो सकेगा-क्यों कि शरीर के सम्बन्ध का कोई निमित्त ही नहीं है।

यदि एकान्त से निर्निमित्तक आदि सम्बंध माना जायेगा तो मुक्तात्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा-क्योंकि जैसे आदि शरीर अकस्मात् सम्बंध को प्राप्त होता है वैसे ही मुक्तात्मा के भी आकस्मिक शरीर सम्बंध होगा इसलिए मुक्तात्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा।

तथा एकान्त से सर्वथा तैजस कार्मण शरीर को अनादि मानेंगे तो भी अनिर्मोक्ष का प्रसंग आयेगा क्योंकि जो अनादि है-उसका आकाश के समान अन्त भी नहीं होगा, कार्य-कारण के सम्बंध का अभाव होने से मोक्ष का अभाव हो जाता है। यदि कहो कि अनादि बीज वृक्ष की सन्तान का अग्नि से सम्बन्ध होने पर अन्त देखा जाता है उसी प्रकार तैजस कार्मण शरीर का भी अन्त हो जायेगा-तब तो एकान्त से अनादित्व का अभाव होगा। बीज वृक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषापेक्षया अनादिमान् है अत: जैसे बीज-वृक्ष की सन्तति अग्नि से नष्ट हो जाती है-वैसे ही कार्मण शरीर भी ध्यान अग्नि से नष्ट हो जाता है इसलिए साधूक्त है कि किसी प्रकार से वे अनादि हैं और कथंचित् सादि हैं।[7]

2. मूर्त कर्म का अमूर्तिक आत्मा से बंध में अनेकान्त—जैन दर्शन में कर्म को पौद्गलिक माना है। मूर्त कर्मों का अमूर्त आत्मा से बंध कैसे होता है इस प्रश्न का समाधान जैनाचार्यों ने अनेकान्तात्मक शैली में दिया है। जैन तत्व व्यवस्था में संसारी आत्मा को आकाश की तरह सर्वथा अमूर्त नहीं माना गया है। उसे अनादि बन्धन बद्ध होने के कारण मूर्तिक भी माना गया है। बंध पर्याय में एकत्व होने के कारण आत्मा को मूर्तिक मानकर भी वह अपने ज्ञान आदि स्वभाव का परित्याग नहीं करता, इस अपेक्षा से उसे अमूर्तिक कहा गया है। इसी कारण अनादि बन्धन बद्धता होने से उसका मूर्त कर्मो के साथ बंध हो जाता है।[8]

जिस प्रकार घृत मूलत: दूध में उत्पन्न होता है, परन्तु एक बार घी बन जाने के बाद उसे पुन: दूध में परिणत करना असंभव है अथवा जिस प्रकार स्वर्ण नामक पदार्थ मूलत: पाषाण में पाया जाता है परन्तु एक बार स्वर्ण बन जाने पर उसे किट्टिमा के साथ मिला पाना असंभव है। उसी प्रकार जीव भी सदा ही मूलत: कर्म बद्ध (सशरीरी) उपलब्ध होता है, परन्तु एक बार कर्मों से सम्बन्ध छूट जाने पर पुन: इसका शरीर के साथ सम्बन्ध हो पाना असंभव है। जीव मूलत: अमूर्तिक या कर्म रहित नहीं है, बल्कि कर्मों से संयुक्त रहने के कारण वह अपने स्वभाव से च्युत उपलब्ध होता है। इस कारण आत्मा मूलत: अमूर्तिक न होकर कथंचित् मूर्तिक है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर उसका मूर्त कर्मों के साथ बंध हो जाना, विरोध को प्राप्त नहीं होता। इतना अवश्य है कि एक बार मुक्त हो जाने पर वह सर्वथा अमूर्तिक हो जाता है, और तब कर्म के साथ उसके बंध होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता है।[9]

3. भावकर्म और द्रव्यकर्म में कथंचित् भिन्नाभिन्नता—

आचार्य विद्यानन्दि ने कर्म के भेदों के सम्बन्ध में लिखा है—

कर्माणि द्विविधान्यत्र द्रव्यभाविकल्पत:।
द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा॥
भावकर्माणि चैतन्य विवर्त्तात्मानि भान्ति नु:।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथाञ्चचिदभेदत: ॥[10]

अर्थात् कर्म दो प्रकार के हैं—1. द्रव्यकर्म, 2. भावकर्म। जीव के दो द्रव्य कर्म हैं, वे पौद्गलिक हैं और उनके अनेक भेद हैं तथा जो भाव कर्म हैं वे आत्मा के चैतन्यपरिणामात्मक हैं क्योंकि कथञ्चित् अभिन्न रूप से स्वसंवेद्य प्रतीत होते हैं और वे क्रोधादि रूप है।

द्रव्य-कर्म के सम्बन्ध में **आचार्य अकलंकदेव** ने लिखा है—**'यथा भाजन विशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिरा भावेन परिणाम: तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्म भावेन परिणामो वेदितव्य:'।**[11]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार पात्र विशेष में रखे गये अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलों का मद्य रूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों तथा मन, वचन, काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दन रूप योग के कारण कर्म रूप परिणमन होता है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है कि भाव-कर्म द्रव्य-कर्मों को प्रभावित करते हैं और द्रव्य-कर्म भाव-कर्म को प्रभावित करते हैं। दोनों की एक ऐसी सन्धि है कि दोनों एक-दूसरे को जीवनी शक्ति प्रदान कर रहे हैं।

भावकर्म के द्वारा द्रव्यकर्म का आकर्षण हाता है। भावकर्म है — जैविक रासायनिक प्रक्रिया। जीव में होने वाली रासायनिक प्रक्रिया और द्रव्यकर्म सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया है। एक जैविक है और एक पौद्गलिक। दोनों में सम्बन्ध स्थापित होता है। दोनों प्रकियाएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। जैविक रासायनिक प्रक्रिया के साथ सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया का योग है। सूक्ष्म शरीर की रसायनिक प्रक्रिया के साथ जैविक रासायनिक प्रक्रिया का योग है इसीलिए सम्बन्ध स्थापित होता है। यदि दोनों के सम्बन्ध न हो तो वे एक-दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते। रसायन दो प्रकार के होते हैं — बाहरी रसायन और भीतरी रसायन। दोनों प्रकार के रसायन आदमी के व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते हैं।[12]

कर्म की दृष्टि से भाव और द्रव्य कर्म समान हैं परन्तु भावकर्म कथञ्चित् आत्मिक हैं और द्रव्य कर्म कथञ्चित् पौद्गलिक। इनमें कार्य-कारण भाव है। भावकर्म द्रव्यकर्म का कारण है और द्रव्यकर्म भावकर्म का कारण है।

4. कर्मबन्ध में एकानेकात्मकता — कर्म के परमाणु अपने आप व्यक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। जीव अपनी प्रवृत्ति के द्वारा कर्म परमाणु स्कन्धों को आकर्षित करता है, अपने साथ सम्बन्ध स्थापित करता है और वह सम्बन्ध बहुत गहरा हो जाता है। **आचार्य कुन्दकुन्द** ने लिखा है —

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमितं तहेव जीवो वि परिणमइ॥[13]

जीव मिथ्यात्व आदि परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गलों का कर्मरूप परिणमन करता है और पुद्गल कर्म के निमित्त से जीव भी मिथ्यात्व आदि रूप परिणमता है।

'**तत्त्वार्थसूत्र**' में बंध को परिभाषित करते हुए लिखा है —

'सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानादत्ते स बन्धः'[14]

अर्थात् जीव सकषाय होने से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध है।

बन्ध दो प्रकार का है — एक भाव बन्ध और दूसरा द्रव्य-बन्ध। जिन राग, द्वेष और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोह आदि विकारी भावों से कर्म का बन्धन होता है उन भावों को भाव-बन्ध कहते हैं। कर्म-पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्य बन्ध है।

भाव बन्ध नोकर्म बन्ध और कर्म बन्ध के भेद से दो प्रकार का है। माता-पिता-पुत्र आदि का स्नेह सम्बन्ध नोकर्म है। जो कर्म बन्ध है उसको पुनर्भविक कर्म बन्ध सन्तति का सद्भाव होने से सादि, सान्त और पूर्णतया नाश न होने से अनादि अनन्त जानना चाहिए क्योंकि बीज और अंकुर के समान इसके प्रादुर्भाव की सन्तान चलती रहती है।

कर्म बन्ध के चार भेद भी बताये गये हैं — प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध।[15] आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है —

कम्मं जोग णिमित्तं बज्झइ बंधट्ठिइ कसायवसा।
अपरिणउच्छिण्णेसु य बंधट्ठिइ कारणं णत्थि॥[16]

मन, वचन और शरीर के व्यापार से उत्पन्न आत्मा के प्रदेशों में हलन-चलन रूप योग से कर्म ग्रहण किये जाते हैं तथा क्रोध, अहंकार, माया और लोभ रूप कषाय से बन्ध की स्थिति निर्मित होती है। परन्तु उपशान्त कषाय तथा क्षीण कषाय (ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में) की अवस्था में कर्मबन्ध की स्थिति का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता।

बंध सामान्य की अपेक्षा समानता होते हुए भी विशेष की अपेक्षा से इनमें अन्तर है। कषाय के योग से स्थिति और अनुभाग होता है तथा योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध।

बंध के एक से लेकर संख्यात तक भेद होते हैं। उनमें सामान्य से कर्म बन्ध एक है। विशेषों की अपेक्षा नहीं होने से सेना और वन के समान। जैसे सैनिक, हाथी, घोड़ा आदि भेदों की विवक्षा न होने से समुदाय की अपेक्षा सेना एक कही जाती है, अशोक, तिलक, बकुल आदि वृक्षों की भेद विवक्षा न होने से सामान्यतया वन एक कहा जाता है, उसी प्रकार भेदों की विवक्षा न करने पर सामान्यतया कर्म बंध एक ही प्रकार का है। उसी प्रकार पुण्य और पाप के भेद से कर्म बन्ध भी दो प्रकार का है। अनादि-सान्त, अनादि-अनन्त और सादि-सान्त के भेद से कर्मबन्ध तीन प्रकार का है। प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। पृथ्वी आदि छह काय के जीवों के भेद से छह प्रकार का कहा गया है। राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कारण के भेद से बन्ध सात प्रकार की वृत्ति का भी अनुभव करता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय — आठ प्रकार के कर्मों के विकल्प संख्यात विकल्प हैं, क्योंकि कर्म शब्दके वाचक शब्द संख्यात ही हैं। विकल्प की अपेक्षा असंख्यात हैं। अनन्तानन्त प्रदेश स्कन्ध के परिणमन विधि की अपेक्षा कर्मबन्ध अनन्त है।[17]

5-पुण्य तथा पाप कथंचित् सदृश है, कथंचित् असदृश —

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है, जैसे सोने से निर्मित बेड़ी हो चाहे लोहे की, दोनों ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह की बेड़ियाँ पुरुष को साधारण रूप से जकड़ कर रखती हैं। इसी प्रकार चाहे शुभ कर्म हो या अशुभ कर्म वह साधारण रूप से जीव को संसार में रखता है।[18]

आचार्य पूज्यपाद के अनुसार जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है, जैसे सातावेदनीय आदि तथा जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है, जैसे असातावेदनीय आदि।[19]

पुण्य दो प्रकार का है — एक जीव पुण्य, दूसरा अजीव पुण्य। जो जीव पुण्य-भाव अर्थात् शुभ-भाव से युक्त हो वह जीव पुण्य है। जो पुद्गल पुण्य भाव से युक्त हो वह अजीव पुण्य है। पुण्य का पर्यायवाची शुभ भी है। इसलिए पुण्य भाव को शुभ भाव भी कहते हैं।[20]

जीव तीन प्रकार के हैं — 1. बहिरात्मा, 2. अन्तरात्मा, 3. परमात्मा। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। अरहन्त और सिद्ध परमात्मा हैं। इनमें से बहिरात्मा पाप-जीव है। अन्तरात्मा पुण्य-जीव है। परमात्मा पुण्य-पाप से रहित हैं।

'मोक्ष पाहुड' में लिखा है — व्रत और तप रूप शुभ भावों से (पुण्य भावों से) स्वर्ग प्राप्त होना उत्तम है तथा अव्रत और अतप (अशुभ भाव, पाप भाव) से नरक में दुःख प्राप्त होना ठीक नहीं है, वैसे ही व्रत (शुभ) और अव्रत (अशुभ) पालने वालों में महान् अन्तर है।[21]

पुण्य और पाप — दोनों ही भाव विभाव हैं, आत्मा के चरित्र गुण की विकारी पर्यायें हैं, अतः विकार-विभाव की अपेक्षा दोनों में साम्य है। जैसे चाहे लोहे की बेड़ी हो या सोने की बेड़ी पर है तो बेड़ी ही। इसलिए दोनों सदृश हैं। इसी तरह पुण्य तथा पाप रूप द्रव्य कर्म भी आत्मा से परत्व की अपेक्षा समान हैं। कर्म तो परद्रव्य ही है, चाहे पाप कर्म हो या पुण्य कर्म, पर हैं तो कार्मण वर्गणा की पर्याय ही। इस तरह पुण्य-पाप कथंचित् सदृश हैं, क्योंकि दोनों ही संसार के कारण हैं परन्तु इनके फल में भिन्नता देखी जाती है अतः कथंचित् भिन्नता है।

आचार्य अकलंक के अनुसार पुण्य-पाप को सर्वथा एक रूप कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि सोने या लोहे की बेड़ी की तरह दोनों ही आत्मा की परतंत्रता के कारण हैं तथापि इष्ट फल और अनिष्ट फल में निमित्त से पुण्य और पाप में भेद है। जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रियों के विषय आदि का निवर्त्तक कारण है वह पुण्य है तथा अनिष्ट गति, जाति, शरीर इन्द्रियों के विषय आदि पाप हैं। इनमें शुभ योग पुण्यास्रव का कारण है और अशुभ योग पाप का आस्रव है।[22]

आचार्य अमितगति ने लिखा है जो मूढ़ पुण्य-पाप दोनों के विशेष भेद को अथवा दोनों में अविशेष-अभेद को नहीं जानता वह चारित्र से परिभ्रष्ट है और संसार का परिवर्द्धक है, भव-भ्रमण करने वाला दीर्घ संसारी है।[23]

6 कर्मसिद्धान्त में पंच समवाय की मान्यता —

जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ — इन पांच समवाय को स्वीकार किया गया है।[24] सामान्यतः नियम यह है कि प्रत्येक कार्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पत्ति में ये पांच कारण नियम से होते हैं। स्वभाव से द्रव्य की स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया है। पुरुषार्थ से जीव का बल वीर्य लिया गया है। काल से स्वकाल और परकाल का ग्रहण किया गया है, नियति से समर्थ उपादान या निश्चय की मुख्यता दिखलाई गई है और कर्म से बाह्य निमित्त का ग्रहण किया गया है।

अष्ट सहस्त्री, (पृ. 257) में भट्टाकलंकदेव ने एक श्लोक लिखा है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।

सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

जिस जीव की जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकार का करने लगता है और उसे सहायक भी उसी के अनुसार मिल जाते हैं।

भवितव्यता क्या है? जीव की समर्थ उपादान शक्ति नाम ही तो भवितव्यता है। भवितव्यता की व्युत्पत्ति है—**भवितुम योग्यं भवितव्यम, तस्य भावः भवितव्यता।** जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाती है। जिसे हम योग्यता कहते हैं उसी का नाम भवितव्यता है। द्रव्य की समर्थ उपादान शक्ति कार्य रूप से परिणत होने के योग्य होती है इसलिए समर्थ उपादान शक्ति भवितव्यता या योग्यता शब्द द्वारा अभिहित किया गया है सो प्रकरण के अनुसार उक्त अर्थ करने में भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि भवितव्यता से उक्त दोनों अर्थ सूचित होते हैं। उक्त श्लोक में भवितव्यता को प्रमुखता दी गयी है और साथ में व्यवसाय पुरुषार्थ तथा अन्य सहायक सामग्री का भी सूचन किया गया है सो इस कथन द्वारा उक्त पांचों कारणों का समवाय होने पर कार्य की सिद्धि होती है, यही सूचित होता है, क्योंकि स्वकाल उपादान की विशेषता होने से भवितव्यता में गर्भित हैं ही।

यहाँ भवितव्यता के प्रसंग में पुरुषार्थ का भी विचार कर लेना चाहिए। कार्योत्पत्ति में भवितव्यता अन्तरंग (उपादान) कारण है और पुरुषार्थ बहिरंग (निमित्त) कारण है। किसी भी कार्य की उत्पत्ति दोनों कारणों से होती है। अनेकान्तवादी जैनदर्शन में दैव और पुरुषार्थ दोनों का समन्वय किया गया है। दैव और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में आप्तमीमांसा में लिखा है—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।

बुद्धिपूर्वव्यपे क्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्॥[26]

जो इष्ट या अनिष्ट कार्य अबुद्धिपूर्वक घटित हो जाता है उसे अपने दैवकृत समझना चाहिए। यहाँ पौरुष गौण है और देव प्रधान है और जो इष्ट या अनिष्ट कार्य बुद्धिपूर्वक घटित होता है उसे अपने पौरुषकृत समझना चाहिए। यहाँ दैव गौण है और पौरुष प्रधान है।

इस विषय में **आचार्य अकलंकदेव** ने 'अष्ट शती' में लिखा है—**योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयदृष्टम्। पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्। ताभ्यामर्थ सिद्धिः। तदन्यतरापायेऽघटनात।**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् योग्यता अथवा पूर्व कर्म दैव कहलाते हैं। ये दोनों अदृष्ट हैं तथा इस जन्म में किये गये पुरुष व्यापार को पौरुष कहते हैं। यह दृष्ट होता है। इन दोनों से अर्थ की सिद्धि होती है और इन दोनों में से निजी एक के अभाव में अर्थ की सिद्धि नहीं होती है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है कि काल, स्वभाव, नियति, पुराकृत (हमारा किया हुआ) और पुरुषार्थ — ये पांच तत्त्व हैं। इन्हें समवाय कहा जाता है। ये पांचों सापेक्ष हैं। यदि किसी एक को प्रधानता देंगे तो समस्याएँ खड़ी हो जायेंगी। काल प्रकृति का एक तत्त्व है। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव अपना-अपना होता है। नियति सार्वभौम नियम है, जागतिक नियम है। यह सब पर समान रूप से लागू होता है। व्यक्ति स्वयं कुछ करता है। मनसा, वाचा, कर्मणा, जाने-अनजाने, स्थूल या सूक्ष्म प्रवृत्ति के द्वारा जो किया जाता है, वह सारा का सारा अंकित होता है। जो पुराकृत किया गया है, उसका अंकन और प्रतिबिम्ब होता है। प्रत्येक क्रिया अंकित होती है और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त कर्म की क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त है। करो, उसकी प्रतिक्रिया होगी। गहरे कुँए में बोलेंगे तो उसकी प्रतिध्वनि अवश्य होगी। ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है। बिम्ब का प्रतिबिम्ब होता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। यह सिद्धान्त है दुनिया का। प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति का परिणाम होता है और उसकी प्रवृत्ति होती है। कर्म अपना किया हुआ होता है। कर्म का कर्त्ता स्वयं व्यक्ति है और परिणाम उसकी कृति है। यह प्रतिक्रिया के रूप में सामने आती है। इसलिए इसे कहा जाता है — पुराकृत। इसका अर्थ है पहले किया हुआ। पाँचवा तत्त्व है — पुरुषार्थ। कर्म और पुरुषार्थ दो नहीं, एक ही हैं। एक ही तत्त्व के दो भाग हैं। इनमें अन्तर इतना है कि वर्तमान का पुरुषार्थ 'पुरुषार्थ' कहलाता है और अतीत का पुरुषार्थ कर्म कहलाता है। कर्म पुरुषार्थ के द्वारा ही किया जाता है, कर्तृत्व के द्वारा ही किया जाता है। आदमी पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थ करने का प्रथम क्षण पुरुषार्थ कहलाता है और उस क्षण के बीत जाने पर वही पुरुषार्थ कर्म नाम से अभिहित होता है।

ये पाँच तत्त्व हैं, पाँचों सापेक्ष हैं। सर्वशक्तिमान एक भी नहीं। सबकी शक्तियां सीमित हैं, सापेक्ष हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी हैं।[27]

7. कथंचित् कर्म का कार्य निमित्त जुटाना "है" कथंचित् "नहीं है" —

हमारे कर्मों का बाहरी सामग्री तथा दूसरे प्राणी पर असर पड़ता भी है और नहीं भी, ऐसा अनेकान्त है एकान्ततः नियम नहीं है। हमारा कर्मोदय निमित्त मात्र होता है, जैसे पण्डित दौलतराम ने कहा है — "**भवि भागन वच जोगे वशाय, तुम धुनि है सुनि विभ्रम नशाय**"। यहाँ भव्य जीवों का भाग्य ध्वनि के खिरने में निमित्त हुआ और वचन योग से निकली वचन-वर्गणाएँ भव्य जीवों के भ्रम दूर करने में कारण हुई। चक्रवर्ती गणधरादि की शंका के निमित्त से भी भगवान् की वाणी खिर जाती है। इस प्रकार अनेक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं। मनुष्य स्वयं खोटा या अच्छा अपने कर्मोदय या विचारों से होता है किन्तु उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संगति का दूसरों पर भी असर पड़ता है। कहा भी है—"**जब लौ नहीं शिव लहूँ, तब लौं देहु यह धन पावना। सतसंग सुद्धाचरण श्रुत अभ्यास आतम भावना**"। यहां पर सर्वप्रथम सत्संग पाने की भावना है।

प्रद्युम्न-चरित्र में यह कथन है कि जो दु:ख-दायक सामग्री थी वही सामग्री पुण्योदय के कारण सुख को उत्पन्न कराने वाली हो गई। सास ने घड़े में सर्प डाला, किन्तु पुण्योदय से वह सर्प फूलमाला बन गया। इन सब कथनों से स्पष्ट है कि पुण्य कर्म के निमित्त (कारण) से बाह्य सामग्री जुट जाती है।

इस प्रकार कर्म का कार्य निमित्त जुटाना है। क्वचित् नहीं जुटाना भी है, एकान्तत: कुछ नियम नहीं हैं। षट्खण्डागम तथा मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि सातावेदनीय कर्मोदय से बाह्य सामग्री मिलती है।[28] पर सर्वकर्म उदित होकर बाह्य सामग्री जुटाने में हेतु होते ही हैं, ऐसा एकान्त नहीं है।

कथंचित् कर्म जीव स्वभाव का पराभव करते हैं, कथंचित् नहीं करते—

यदि स्वत:, अकारण, स्वयं के कारण से ही जीव के स्वभाव का पराभव होता है तो वह सिद्धों में भी होना चाहिए। क्योंकि कारण तो कुछ मिलाना ही नहीं पड़ रहा है अत: सिद्ध है कि कर्म जीव स्वभाव का पराभव करते हैं। प्रवचनसार में कहा भी है, जैसे ज्योति (लौ) के स्वभाव के द्वारा तैल के स्वभाव का पराभव करके किया जाने वाला दीपक ज्योति का कार्य है, उसी प्रकार कर्म स्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जाने वाली मनुष्यादि पर्याय कर्म के कार्य हैं।[29] **परमात्म-प्रकाश** में भी इसी सन्दर्भ में कहा है—"दुक्खु वि सुक्खु वि बहु विहउ, जीवहं कम्मु जणेइ", अर्थात् जीव के अनेक तरह से सुख और दु:ख को कर्म ही उपजाता है। इस प्रकार कर्म अनादि से जीव स्वभाव का पराभव कर रहे हैं यह कथंचित् सत्य है। परन्तु ये ही कर्म अन्तरंग कारण बनकर जीव स्वभाव का पराभव नहीं करते, इस दृष्टि से कथंचित पराभव नहीं भी करते हैं अथवा सिद्धों के स्वभाव का पराभव कर्म नहीं कर सकते। इस दृष्टि से भी कथंचित् जीव स्वभाव का पराभव कर्म नहीं भी करते। ज्ञानियों का विलास ही विचित्र है। अनेकान्तवाद में किसी को भी बोलने का मौका नहीं मिलता।

8. कर्म कथंचित् नष्ट होते हैं, कथंचित नष्ट नहीं होते

अष्ट कर्म नष्ट किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इस सिद्धान्त वचन से जाना जाता है कि कर्म नष्ट होते हैं, क्योंकि अनेक परमात्माओं ने कर्म नष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया ही है। कथंचित् कर्म नष्ट नहीं होते। इस कथन का अभिप्राय यह है कि सकल कर्मपर्याय का विनाश होने पर भी कर्म द्रव्य का विनाश नहीं होता। वह कर्म द्रव्य अकर्म पर्याय रूप परिणमन कर जाता है अर्थात् पुद्गल द्रव्य वर्गणाएँ ही आत्मा के रागादि भाव का आश्रय लेकर कर्मरूप परिणमन कर जाती हैं और आत्मा को परतंत्र बना देती हैं। कदाचित् उस आत्मा से अलग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर कर्मत्व अवस्था को छोड़कर पुनः अकर्म पुद्गल रूप हो जाती है, जैसे कि मणि से मल द्रव्य का मलात्मक पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अमलात्मक (अन्य पुद्गल) पर्याय रूप से परिणमन हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कथंचित् (अर्थात् पर्याय की अपेक्षा कर्म नष्ट होते हैं, कथंचित् द्रव्यपन की अपेक्षा) कर्म नष्ट नहीं होते हैं।[30]

कर्म सिद्धान्त का सम्यग्दर्शन

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है और वह स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। अपने कर्म का कर्त्ता और उसके फल का भोक्ता भी वही है किन्तु अनादि से कर्म परतन्त्र होने के कारण वह अपने स्वभाव को भूला हुआ है। इस कारण वह किसी आपत्ति के आने पर 'करम गति टाली नाहि टलौ विधि का विधान ऐसा ही है', 'भवितव्यता दुर्निवार है' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करता है। यह तो वही हुआ कि जब जैनदर्शन ने ईश्वर की दासता से मुक्ति दिलाई तो कर्म की दासता स्वीकार कर ली। यथार्थ में कर्म की गति अटल नहीं है। उसे हम अपने पुरुषार्थ से टाल सकते हैं। उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि कर्म की विविध अवस्थाऐं हमारे पुरुषार्थ के अधीन हैं अतः कर्म का सम्यग्दर्शन करके हमें अनुकूल सत्पुरुषार्थ में लग जाना चाहिए।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने लिखा है—'अनेकान्त कोरा दर्शन नहीं है, यह साधना है। एकांगी आग्रह राग और द्वेष से प्रेरित होता है। राग-द्वेष क्षीण करने का प्रयत्न किये बिना एकांगी आग्रह या पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण से मुक्ति नहीं पायी जा सकती। जैसे-जैसे अनेकान्त दृष्टि विकसित होती है, वैसे-वैसे राग-द्वेष क्षीण होता है। जैनदर्शन ने राग-द्वेष क्षीण करने के लिए अनेकान्त दृष्टि प्रस्तुत की।[31] इसी आलोक में आज सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक क्षेत्रों में राग-द्वेष को नष्ट कर अनेकान्त को अपनाने की आवश्यकता है। जैन दर्शन का कर्मवाद आज अनेक समस्याओं से निजात दिलाने में समर्थ है।'

सन्दर्भ—

1. न्याय सूत्र 4/1 ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्
2. सांख्य सूत्र 5/25 अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्
3. अभिधर्म कोष 4/1 कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत्
4. न्यायमञ्जरी, पृ. 279
5. प्रवचनसार की टीका, पृ. 165
6. तत्त्वार्थसूत्र, 2/41
7. आचार्य अकलंक : तत्त्वार्थवार्तिक, प्रथम भाग, पृ. 404-405
8. द्रव्यसंग्रह गाथा-7
9. कर्म सिद्धान्त 38

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. आप्त परीक्षा 113, 114
11. तत्त्वार्थवार्तिक 8/2 की टीका, द्वितीय भाग, पृ. 450
12. आचार्य महाप्रज्ञ : कर्मवाद, पृ. 28
13. समयसार 80
14. तत्त्वार्थसूत्र 8/2
15. वही 8/3
16. सन्मति तर्क 1/19
17. आचार्य अकलंक — तत्त्वार्थवार्तिकम्, द्वितीय भाग, पृ. 461
18. सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदिऽएवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥ — समयसार 153
19. पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। तत्सद् वेद्यादि। पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापं। तत्सद्वेद्यादि। सवार्थसिद्धि, पृ. 245
20. "जीविदरे कम्भचये पुण्णं पावोत्ति होदि पुण्णं तु"। गोम्मटसार-जीवकाण्ड गाथा 643
21. वरं वयतेवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ णिरई इयरेहिं
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं॥ मोक्षपाहुड गाथा 25
22. तत्त्वार्थवार्तिक द्वितीय भाग, पृ. 254
23. यः पुण्यपापयोर्मूढो विशेषं नावबुध्यते।
स चरित्र परिभ्रष्टः संसार परिवर्धकाः॥ — योगसार प्राभृत 3/37
24. कालो सहाव णियई, पुव्वकयं कारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेव उ समासमो होंति सम्मत्तं॥ — सन्मति प्रकरण 3/53
25. पं. फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, अभिनन्द न ग्रन्थ, पृ. 212
26. आप्तमीमांसा-91
27. आचार्य महाप्रज्ञ : कर्मवाद, पृ. 130
28. धवल 6/36, धवला 13, मोक्षमार्ग प्रकाशक 2/36
29. यथा खलु ज्योतिः स्वभावेनतैलस्वभावममिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिः कार्य तथा कर्मस्वभावेन जीव स्वभावभिमूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कार्यम्॥ 117
— प्रवचनसार टीका आ. अमृतचन्द
30. अष्टसहस्त्री-प्रथम परिच्छेद 141
31. आचार्य महाप्रज्ञः जैनदर्शन, मनन और मीमांसा-प्रस्तुति, पृ. 4

विभागाध्यक्ष
जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूँ-341306 (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत कथा साहित्य : उद्भव, विकास एवं व्यापकता

—डॉ. जिनेन्द्र जैन

भारतीय वाङ्मय में संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश साहित्य का अपना विशेष स्थान है। साहित्य की समस्त विधाओं में प्राप्त इन तीनों भाषाओं के साहित्य का अध्ययन भारतीय संस्कृति एवं उसके मूलस्रोत्र को जानने में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध कराता है/करता है। फलतः प्राचीन ऋषियों, आचार्यों एवं महापुरुषों ने इतिहास, धर्म, दर्शन, संस्कृति, समाज विषयक विपुल साहित्य लिखा जिनमें पुराण, महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथा-चरित, नाटक, शिलालेख, व्यंग्य, गीति, स्तोत्र, चम्पू आदि अनेक विधाएँ परिगणित हैं। इन्हीं विधाओं के आलोक में लगभग ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी से लेकर 17-18वीं शताब्दी तक लिखा गया प्राकृत साहित्य का अपना महत्त्व है। इन विधाओं में भी मानव एवं समाज का अत्यधिक निकटता का सम्बन्ध कथा साहित्य से रहा है। अतः प्राकृत कथा साहित्य के उद्भव विषयक मूलस्रोत, स्वरूप, भेद तथा उसके विषय और व्यापकता सम्बन्धी बिन्दुओं को उजागर करने का प्रयास प्रस्तुत आलेख में किया गया है।

यह सर्वमान्य है कि कथा साहित्य का सम्बन्ध मानव के आदिकाल से ही है, क्योंकि मानव का जब से पृथ्वी पर अवतरण हुआ और क्रमशः उसका विकास प्रारम्भ हुआ तभी से उसे (मानव को) मनोविनोद तथा ज्ञानवर्धन की आवश्यकता महसूस हुई। अतः 'आवश्यकता अविष्कार की जननी है' इस उक्ति के अनुसार मानव ने अपने मनोविनोद एवं ज्ञानवर्धन का एक माध्यम बनाया — कथा-कहानी। यही कारण है कि मानव नेत्रोन्मीलन से लेकर अपनी अन्तिम सांस तक कथा-कहानी कहता है और सुनता है। इसमें जिज्ञासा और कौतूहल की ऐसी शक्ति समाहित है जो आबाल-वृद्ध सभी के लिए ग्राह्य है। श्रीमद्भागवत् में संसार-ताप से संतप्त प्राणी के लिए कथा को संजीवनी-बूटी कहा है।[1]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत कथा साहित्य की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि के रूप में यद्यपि संस्कृत साहित्य को मूलस्रोत रूप नहीं होने पर भी अनदेखा नहीं किया जा सकता, क्योंकि वेदों से लेकर ब्राह्मण उपनिषद्, महाभारत आदि के प्रसंगों, संवादों व व्याख्याओं आदि में अनेक ऐसी कथासंयोजनाएँ प्राप्त होती हैं, जो भले ही आज के कथा-साहित्य के स्वरूप की तुलना में स्वतंत्र व भिन्न हों। किन्तु उन्हें कथा, कहानी, उपाख्यान, आख्यान आदि किसी न किसी रूप में परिगणित किया ही जायेगा। डॉ. नेमिचन्द शास्त्री के अनुसार "यह प्राचीनतम रूप ऋग्वेद के यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, सरमा और पणिगण जैसे लाक्षणिक संवादों, ब्राह्मण के सौपर्णीकाद्रव जैसे रूपात्मक आख्यानों, उपनिषदों के सनत्कुमार-नारद जैसे ब्रह्मर्षियों की भावमूलक आध्यात्मिक व्याख्याओं एवं महाभारत के गंगावतरण, शृंग, नहुष, ययाति, शकुन्तला, नल आदि जैसे उपाख्यानों में उपलब्ध होता है।"[2]

प्राकृत कथा साहित्य के बीज रूप मूलस्रोत के निम्न तीन बिन्दु मुख्य हैं —

1. आगम साहित्य 2. व्याख्या साहित्य 3. लोक जीवन

1. जैन आगम साहित्य यद्यपि धार्मिक आचार, सिद्धान्त निरूपण, आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन, नीति, कर्त्तव्य-परायण, जैसे विषयों को विवेचित करता है। किन्तु ये सभी विषय कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किए गए हैं। सिद्धान्तों के गूढ़तम रहस्यों तथा गंभीर विषयों की गुत्थियों को सुलझाने के लिए कथाओं का आलम्बन लेकर जन-मानस के अन्तस् तक पहुँचा जा सकता है। क्योंकि कथा के माध्यम से किए गए सिद्धान्त या विषय के विवेचन को पाठक, श्रोता या जनसामान्य यथाशीघ्र ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि हमारे तीर्थंकरों, गणधरों, अन्यान्य आचार्यों ने कथाओं का आधार ग्रहण किया और उसे सार्वजनीन एवं लोकप्रिय बनाने का कार्य भी किया। कथा साहित्य की इसी सार्वजनिक लोकप्रियता के सम्बन्ध में डॉ. जगन्नाथप्रसाद शर्मा[3] कहते हैं कि "साहित्य के माध्यम से डाले जाने वाले जितने प्रभाव हो सकते हैं, वे रचना के इस प्रकार में अच्छी तरह से उपस्थित किये जा सकते हैं। चाहे सिद्धान्त प्रतिपादन अभिप्रेत हो, चाहे चरित्र-चित्रण की सुन्दरता इष्ट हो या किसी घटना का महत्त्व-निरूपण करना हो अथवा किसी वातावरण की सजीवता का उद्घाटन ही लक्ष्य बनाया जाये, क्रिया का वेग अंकित करना हो या मानसिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करना इष्ट हो-सभी कुछ इसके द्वारा संभव है।" अतएव यह स्पष्ट है कि लोकप्रिय इस विधा का उद्भव वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के शोधन और परिमार्जन के लिए आगमिक साहित्य से ही हुआ है। व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उवासगदशा, अंतकृद्दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, तिलोयपण्णत्ति, उत्तराध्ययन आदि आगम ग्रंथ हैं जिनमें कथाओं को सूत्ररूप में उल्लिखित किया गया है।

2. जैन आगम साहित्य के व्याख्या साहित्य में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका ग्रंथ प्रमुख हैं। इसी व्याख्या साहित्य में प्राकृत कथाओं का बहुत कुछ विकास देखने को मिलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जहाँ आगम साहित्य में बीजरूप सूत्रशैली में कथाओं का निर्देश "वण्णओ" या नाम आदि के उल्लेख मात्र से कर दिया जाता था, वह व्याख्या साहित्य में वर्णनों की सजीवता से अनुप्राणित होकर विषय, उद्देश्य, वातावरण, पात्र, रूपगठन आदि के नवीनतम प्रयोगों सहित अभिव्यंजित किया जाने लगा था। व्याख्या साहित्य में वर्णित इन कथाओं का रूप श्रमण-परम्परा से प्रभावित तो था ही, साथ ही ऐतिहासिक, अर्धैतिहासिक, धार्मिक, लौकिक आदि तत्त्वों को भी विवेचित करने वाला था। निर्युक्ति साहित्य की भाँति व्यवहारभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य, दशवैकालिक चूर्णि, निशीथचूर्णि, सूत्रकृतांग चूर्णि, उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका आदि प्रमुख व्याख्या ग्रंथ हैं जिनमें प्राकृत कथाएँ प्राप्त होती हैं। अत: उद्गम स्थल आगम साहित्य से कथा सरिता प्रवाहित होकर अपने कुछ-कुछ आकार को पाने लगी थी।

3. प्राकृत कथा साहित्य के बीजरूप मूलस्रोत का तीसरा बिन्दु है — लोक जीवन। मानव जाति की आदिम परम्पराओं, प्रथाओं और उसके विभिन्न प्रकार के विश्वासों का लोक जीवन में विशेष महत्त्व है। अत: कथाओं में लोकमानव की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति का रहना आवश्यक है। यही कारण है कि कथाओं में लोक जीवन और वहाँ की संस्कृति का वास्तविक प्रतिबिम्ब पड़ता है। कथाएँ लोक-चित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्वसाधारण को आन्दोलित, चालित और प्रभावित करती हैं, क्योंकि कथाकार जो कहता-सुनता है, उसे लोक जीवन की वाणी बनाकर और उसमें घुल-मिलकर ही कहता-सुनता है। वह कथा के विषय का चुनाव भी लोक जीवन के किसी विशेष पक्ष से करता है। अत: जनमानस के जीवन के चित्रण में ही लोक धर्म का चित्रण होता है जो प्राकृत कथा साहित्य का मूलस्रोत कहा जा सकता है।

प्राकृत कथा साहित्य के बीजरूप उक्त तीनों मूलस्रोतों में यह आवश्यक है कि लिखित रूप में आगम साहित्य ही प्रथम आधार है किन्तु लोक जीवन के प्रत्येक पक्ष, घटनाएँ, प्रसंग आदि भी श्रमणों को सहजता से कथा के आधार मिलते रहे, जिनके प्रयोगों से जनमानस भलीभाँति परिचित और प्रभावित हो जाते थे।

स्वरूप एवं भेद :

कथा या कहानी कवि के चित्त से उद्भूत अपनी सुनियोजित भावनाओं की अभिव्यक्ति है। चाहे कथा हो अथवा काव्य, दोनों की उत्पत्ति उपमान, रूपक और प्रतीकों द्वारा होती है। सिद्धान्तों अथवा तत्त्वों को इन तीनों की कसौटी पर कसकर जब उद्धरण सहित प्रस्तुत किया जाता है तब वे कथा का रूप ले लेते हैं। कथा के माध्यम से जिन उद्धरणों का प्रयोग रचनाकार करता है वे उपमान, रूपक एवं प्रतीक की त्रयी से सम्बन्धित होते हैं। इसीलिए अमरकोशकार ने "प्रबन्धकल्पना कथा"[4] कहकर स्पष्ट किया है कि प्रबन्ध रूप में कल्पित रचना को कथा कहा गया है अर्थात् वह रचना जिसमें कवि की अपनी कल्पना शक्ति के माध्यम से कथा की संयोजना की गई हो। यद्यपि ऐतिहासिक या पौराणिक विषय होने पर भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथा की चेतना में अपनी कल्पना शक्ति का विस्तार बखूबी किया जाता है, इसलिए अभिप्राय विशेष से युक्त शब्दों के प्रयोग द्वारा कथा में रोचकता या मनोरंजकता को बढ़ाने वाली रचना कथा कही जाती है।

यह स्पष्ट है कि कथा साहित्य में मानव के वैयक्तिक जीवन व सामाजिक पक्ष को बाह्य एवं आभ्यान्तर क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के विवेचन के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। विवेचित समस्त क्रियाओं का सम्बन्ध जिन बिन्दुओं से होता है, उन्हें कथा के आवश्यक अंग या तत्त्व कहा जाता है। वे निम्नांकित हैं: —

1. कथानक (कथासूत्र)
2. पात्र (चरित्र-चित्रण)
3. संवाद (कथोपकथन)
4. देशकाल का चित्रण
5. शैली
6. उद्देश्य

किसी भी कथा का कथासूत्र पात्रों के संवादों से आगे बढ़ता है। कथाकार अपने उद्देश्य को लेकर पात्रानुसार सांस्कृतिक एवं भौगोलिक परिवेश में जीवन के उतार-चढ़ाव सहित विभिन्न पक्षों का चित्रण कुशल शैली से करता है, तभी उसकी कथा सफल व पूर्ण कही जाती है। अत: उक्त लक्षण कथाग्रंथों में आवश्यक व अनिवार्य कहे गये हैं।

प्राकृत कथा साहित्य विपुल मात्रा में प्राप्त होता है। जैन आचार्यों, मनीषियों द्वारा लिखे गये कथा ग्रंथों में कथाओं के शिल्प, विषय, पात्र, भाषा, शैली आदि के आधार पर विभिन्न रूपों में भेद-प्रभेद की चर्चा की गई है। दशवैकालिक निर्युक्ति, कुवलयमाला कहा, लीलावईकहा, धवला, समराइच्चकहा के अतिरिक्त पउमचरियं, महापुराण आदि ग्रंथों में कथाओं के भेदों का उल्लेख किया गया है। विषय निरूपण की अपेक्षा से कथा के तीन भेद किए जाते हैं —

1. अकथा : मिथ्यात्व के उदय से जिस कथा का निरूपण किया जाये, अकथा कहलाती है। यह संसार के परिभ्रमण को बढ़ाने वाली होती है।

2. कथा : संयम, तप, त्याग आदि के द्वारा स्वयं को परिमार्जित कर लोक-कल्याण की भावना से किए जाने वाली कथा का निरूपण, कथा या सत्कथा है।

3. विकथा : प्रमाद, कषाय, राग-द्वेष, स्त्री आदि की विकृति से युक्त निरूपित कथा-विकथा कही जाती है।

कथा के विषय की अपेक्षा से चार भेद भी किए गए हैं[5]: —

1. अर्थकथा 2. कामकथा 3. धर्मकथा 4. मिश्रितकथा

विषय को आधार मानकर धवला टीकाकार वीरसेनाचार्य ने धर्मकथा के चार भेदों का निरूपण किया है[6]: —

1. आक्षेपणी 2. विक्षेपणी 3. संवेदनी 4. निर्वेदनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथाओं में प्रयुक्त पात्रों के आधार पर तीन भेद किए जाते हैं[7]: —

1. दिव्यकथा — जिस कथा में दिव्य व्यक्ति पात्र हों तथा उन्हीं के द्वारा घटनाएँ घटित हों।

2. मानुषी कथा — जिसमें मनुष्य पात्र हों, मानुषी कथाएँ कहलाती हैं।

3. दिव्य-मानुषी कथा — जिसमें देव तथा मनुष्य पात्र हों, वे दिव्य-मानुषी कथाएँ कही जाती हैं।

प्राकृत कथाओं में प्रयुक्त भाषा के आधार पर भी कथा के तीन भेद प्राप्त होते हैं[8]: —

1. संस्कृत 2. प्राकृत 3. मिश्र

उद्योतनसूरि ने स्थापत्य के आधार पर कथाओं के पाँच भेद गिनाए हैं[9]: —

1. सकलकथा 2. खण्डकथा 3. उल्लाप कथा

4. परिहासकथा 5. संकीर्णकथा।

प्राकृत कथाओं का विषय एवं उसकी व्यापकता —

जैन अंग आगम, उपांग व टीका साहित्य के प्रचारार्थ प्राकृत कथा साहित्य में अभूतपूर्व विकास की धारा दिखाई देती है। कथा के माध्यम से प्राकृत कथाकारों ने समाज और जीवन की विकृतियों पर जितना गहरा प्रहार किया है, उतना साहित्य की अन्य विधाओं के द्वारा कभी संभव नहीं था। समाज और व्यक्ति के विकारी जीवन पर चोट करना मात्र ही इन कथाओं का लक्ष्य नहीं था, अपितु विकारों का निराकरण कर जीवन में सुधार लाना तथा आत्मा के कल्याण के साथ-साथ जीवन को सर्वाङ्गीण सुखी बनाना भी था।

कथानक संयोजना में जैन कथाकार पुराणोक्त महापुरुषों के जीवन चरित, मुनिधर्म, तत्त्व-उपदेश, अलौकिक तत्त्वों का निरूपण तथा सिद्धान्त-विवेचन को भी सीधे-सीधे अथवा अवान्तर कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत करते रहे हैं। परम्परा से चली आ रही सामाजिक मर्यादाओं की व्यवस्था का अतिक्रमण कर नये एवं युगानुरूप सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्शों को स्थापित करने का सफलतम प्रयोग जैन कथाकारों ने अपने दृढ़ आचार का पालन करते हुए किया है। उदारपूर्ण मानवीय साहसिक दृष्टिकोण को अपनाकर नूतन प्रवृत्तियों और मौलिक भावनाओं से समाज को अनुप्राणित किया। यही कारण है कि उन्होंने अपनी सृजनात्मक कल्पना शक्ति से लौकिक कथा के आवरण में धर्म, दर्शन व आध्यात्मिकता का पुट देकर इसे रोचक बनाया।

यद्यपि जैनधर्म प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ले जाने वाला मार्ग है। कथाकारों की शुष्क उपदेशात्मक शैली का प्रभावोत्पादक शैली के बिना कोई मूल्य नहीं था। किन्तु युग के अनुरूप आचार्यों ने/कथाकारों ने धर्म, दर्शन के सिद्धान्तों मात्र से कथाओं को बोझिल नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया वरन् आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित करने के लिए उपदेशात्मक शैली के साथ श्रृंगारिक शैली का भी सहारा लिया। लोक मानस में प्रचलित आदर्शों को, चाहे वे वैदिक साहित्य के विषय ही क्यों न हों, जैन कथाकारों ने अपने कथानक का विषय बनाया और उन कथानकों को जैनधर्म के अनुरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया, जिसमें वे अधिकतम सफल कहे जा सकते हैं। जैन साहित्य की उपलब्धियों और विशेषताओं का आकलन करने वाले विदेशी विद्वान् विन्टरनित्ज ने कहा है कि "श्रमण साहित्य का विषय मात्र ब्राह्मण, पुराण, निजन्धरी कथाओं से नहीं लिया गया है बल्कि लोककथाओं, परीकथाओं से ग्रहीत है।"[10] जैन कथा साहित्य की व्यापकता एवं महत्ता के सम्बन्ध में प्रो. हर्टेल ने अपनी पुस्तक "आन दी लिटरेचर ऑफ दी श्वेताम्बर ऑफ गुजरात"[11] में विस्तार से विवेचन किया है और स्पष्ट किया है कि जैनों का बहुमूल्य कथा साहित्य पाया जाता है, जिनमें कथाओं के माध्यम से अपने सिद्धान्तों को जन-साधारण तक पहुँचाया गया है।

जैन प्राकृत कथा साहित्य के विषयों का वर्गीकरण करके यदि अध्ययन किया जाये तो लगता है कि जीवन के किसी भी पक्ष को उसमें अछूता नहीं किया गया। सामान्य जीवन के अनेक, पक्षों जैसे ऋतुएँ, वन, पर्वत, नदी, उद्यान, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, नगर, राजा, सैनिक, युद्ध, महोत्सव, स्वयंवर, हस्ति, रथ, स्त्रीहरण, साधु-उपदेश, धर्म, दर्शन, अंधविश्वास, लोक परम्पराएँ आदि समस्त पक्षों को उजागर किया गया है। युग के समाज का स्पष्ट रूप इन कथा ग्रंथों में दिखाई देता है। अत: प्राकृत कथा साहित्य का धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, समाज, राजनीति, आर्थिक आदि दृष्टि से अध्ययन स्वतन्त्र विधा के रूप में महसूस किया जाता है।

प्राकृत कथा साहित्य का प्रणयन ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी से लेकर 17-18वीं शताब्दी तक अनवरत रूप से किया जाता रहा है। तत्पश्चात् भी प्राकृत कथाएँ लिखी जाती रहीं, जिसका प्रचलन आज भी श्रमण वर्ग में दिखाई देता है। अभी तक प्राप्त प्राचीन प्राकृत कथा साहित्य में तरंगवईकहा, वसुदेवहिण्डी, समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान, कुवलयमालाकहा, लीलावईकहा, निर्वाणलीलावती, कथाकोश प्रकरण, संवेगरंगशाला नागपंचमीकहा, कहारयण-कोस, नम्मयासुन्दरीकहा, कुमारपालप्रतिबोध, आख्यानमणिकोश, जिनदत्ताख्यान आदि प्रमुख कथा ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त और भी शताधिक रचनाएँ गिनाई जा सकती हैं किन्तु ऐसी हजारों रचनाएँ अभी भी ग्रंथ भण्डारों में पड़ी हुई हैं जो अद्यतन प्रकाश में नहीं आ सकी।

इन सब कथाओं के स्मरण में बृहत्कथाकोश (गुणाढ्यकृत) को भुलाया नहीं जा सकता। पैशाची भाषा की यह रचना प्राकृत कथाओं का कोश कही जाती है। अत: समूचा प्राकृत कथा साहित्य जैन मान्यताओं के विश्लेषण एवं विवेचन में पर्याप्त सफल कहा जा सकता है। भारतीय सांस्कृतिक विरासत के तत्त्व भी इस साहित्य में प्राप्त होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ :

1. तव कथामृतं तप्तजीवन, कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
   श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुविगृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥ — श्रीमद्भागवत् 10/31/9
2. शास्त्री, नेमिचन्द — हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली, 1965 पृ. 438
3. शर्मा, जगन्नाथ — कहानी का रचना विधान, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1956, पृ. 4-5
4. अमरकोश, 1/5/6
5. (क) अत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा चेव मीसिया य कहा — दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा 188, पृ. 212
   (ख) एत्थ सामन्नओ चत्तारि कहाओ हवन्ति। तं जहा- अत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा, संकिण्णकहा य — समराइच्चकहा, पृ. 2
   (ग) महापुराण (जिनसेन) प्रथम, परि. 118, 119
6. धवलाटीका, पुस्तक 1, पृ. 104
7. (क) दिव्वं, दिव्वमाणुसं, माणुसं च। तत्थ दिव्वं नाम जत्थ केवलमेव देवचरिअं वण्णिज्जइ। — समराइच्चकहा, पृ. 2
   (ख) तं जह दिव्वा तह दिव्वमाणुसीं माणुसी तहच्चेय — लीलावई कहा, गाथा 35
8. लीलावई कहा, गाथा 36
9. तओ पुण पंच कहाओ। तं जहा-सयलकहा, खंडकहा, उल्लावकहा, परिहासकहा। तहावरा कहिवत्ति-संकिण्ण कहात्ति। — कुवलयमाला, पृ. 4, अनुच्छेद-7
10. दी जिन इन दी हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, सम्पादक मुनि जिनविजय, पृ. 5
11. आन दी लिटरेचर ऑफ दी श्वेताम्बर ऑफ गुजरात, पृ. 6, 8

वरिष्ठ व्याख्याता
प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूँ-341 306 (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-समाधि और वैयावृत्त्य

—साध्वी मुदितयशा

अध्यात्म का आधार तत्त्व है — आत्मा। वह स्वरूप से परम विशुद्ध, निरंजन, निराकार और चैतन्यमय असंख्य प्रदेशों का अविभाज्य पिण्ड है। उस परम विशुद्धि की अवस्था को उपलब्ध करने के लिए साधक अनेक सोपानों को पार करता है। साधना की अनेक प्रविधियों से अपने अन्तःकरण को भावित करता है। 'तपस्या' साधना की एक महत्त्वपूर्ण प्रविधि है। भगवान् महावीर ने तपस्या की व्यापक सन्दर्भों में व्याख्या कर साधना का सुन्दर मार्ग प्रस्तुत किया है। तपस्या के दो प्रकार हैं — बाह्य और आभ्यन्तर।[1] बाह्य तपस्या का संबंध स्थूल शरीर से है। सूक्ष्म शरीर तक पहुंचने के लिए स्थूल शरीर को साधना आवश्यक है। बाह्य तप के अन्तर्गत आहार, आसन, प्राणायाम और इन्द्रिय-संयम के विभिन्न प्रयोगों द्वारा पहले स्थूल शरीर को साधा जाता है। आभ्यन्तर तप वह शक्ति है जो हमारे सूक्ष्म शरीर को प्रकंपित करती है। उत्तराध्ययन सूत्र की बृहद्वृत्ति में वृत्तिकार ने बाह्य और आभ्यन्तर तप की भेदरेखा को अनेक हेतुओं द्वारा स्पष्ट किया है।[2]

वैयावृत्त्य : परिभाषा, स्वरूप और प्रयोजन

आभ्यन्तर तप का एक प्रकार है — वैयावृत्त्य। वैयावृत्त्य का सामान्य अर्थ है — सेवा। शाब्दिक दृष्टि से किसी संयमी साधक की साधना में सहयोग करना, उसे शुद्ध आहार, औषध, उपधि आदि लाकर देना एवं उसके अन्य कार्यों में व्यापृत होना वैयावृत्त्य है।[3] वैयावृत्त्य करने वाला निरवद्य विधि से गुणीजनों के दुःखों को दूर करता है।[4] आचार्य अकलंक के अनुसार कोई भी आचार्य आदि परीषह, मिथ्यात्व और रोग आदि उपद्रव से ग्रस्त हो जाए उस समय प्रासुक औषधि, भक्तपान, प्रतिश्रय, पीठ, फलक, संस्तरण आदि धर्मोपकरणों के द्वारा व्याधि, परीषह आदि का निवारण करना तथा सम्यक्त्व में पुनः स्थापित करना वैयावृत्त्य है।[5] व्यवहार भाष्य में वैयावृत्त्य के तेरह द्वार उल्लिखित हैं।[6]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयावृत्त्य का मुख्य प्रयोजन है — कर्म निर्जरा। दूसरों की अग्लानभाव से सेवा करने वाला कर्मों के वृन्द के वृन्द खपा देता है। वह महान् कर्म-निर्जरा व आत्यान्तिक पर्यवसान वाला होता है।[7] ज्यों-ज्यों कर्मनिर्जरा होती है, पवित्रता बढ़ती चली जाती है। आत्मशुद्धि के पवित्र उद्देश्य से की जाने वाली सेवा आत्महित साधती है। आत्महित की साधना वही कर सकता है जो परमार्थ की भूमिका पर पहुंच जाता है। इसलिए सेवा में अपने व पराए का भेद गौण होता है, चित्त की समाधि मुख्य होती है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक में वैयावृत्त्य के चार प्रयोजन बतलाए गए हैं —

1. समाधि पैदा करना।
2. विचिकित्सा दूर करना। ग्लानि का निवारण करना।
3. प्रवचन वात्सल्य प्रकट करना।
4. सनाथता — नि:सहायता या निराधारता की अनुभूति न होने देना।[8]

मुनिचर्या का प्रमुख अङ्ग — वैयावृत्त्य

मुनि की साधना का मुख्य सूत्र रहा है — 'काले कालं समायरे।' जो कार्य जिस समय करणीय है, उस कार्य को उसी समय किया जाए। सामान्यतया मुनि की चर्या चार प्रहरों में विभक्त थी। मुनि प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे अर्थात् सूत्र का अध्ययन करे। द्वितीय प्रहर में ध्यान अर्थात् अर्थ का अनुचिन्तन करे। तृतीय प्रहर में भिक्षा और चतुर्थ प्रहर में पुन: स्वाध्याय करे।[9] प्राचीन काल में यह चर्या का एक निश्चित क्रम था। यहां प्रश्न हो सकता है कि इस क्रम में सेवा का स्वतंत्र उल्लेख क्यों नहीं? इसका कारण यही है कि सेवा का कोई निश्चित समय नहीं होता। फिर भी इतना नि:संदेह कहा जा सकता है कि जब भी अपेक्षा होती, सेवा को ही प्राथमिकता दी जाती।

उत्तराध्ययन में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सूर्योदय होते ही मुनि गुरु के उपपात में पहुंचता है। विनयपूर्वक बद्धांजली गुरु से प्रार्थना करता है — भंते! आप जैसा उचित समझें, मुझे स्वाध्याय अथवा वैयावृत्त्य में नियुक्त करें। गुरु शिष्य को वैयावृत्त्य में नियुक्त करते तो वह अग्लान-भाव से वैयावृत्त्य करता और यदि स्वाध्याय में नियुक्त करते तो वह अग्लान-भाव से स्वाध्याय करता।[10]

बृहत्कल्प भाष्य में सेवा की प्राथमिकता का सुन्दर दिग्दर्शन है। वहां बताया गया है — कोई भी मुनि चाहे वह ग्राम में स्थित हो या मार्ग में विहरण कर रहा हो, यदि वह ग्लान के बारे में सुन लें तो सेवा को प्राथमिकता दें। 'ग्लान आदि की सेवा करता हुआ मैं महान् कर्म-निर्जरा का लाभ प्राप्त करूंगा' — इस श्रद्धा के साथ तत्काल वह ग्लान के समीप पहुंचे। ग्लान की अथवा ग्लान की परिचर्या में व्यापृत साधुओं की वैयावृत्त्य में नियुक्ति हेतु प्रार्थना करे। भाष्यकार के अभिमत से ऐसा करने वाला तीर्थ की प्रभावना व तीर्थंकरों की आज्ञा की आराधना करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो मुनि ग्लान के बारे में सुनकर तत्काल उसकी सेवा में उपस्थित नहीं होता अथवा उसकी उपेक्षा करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी बनता है। आचार्य, स्थविर आदि भी उसे उपालम्भ देते हैं। वहां यह भी निर्देश है कि मुनि ग्लान आदि के प्रायोग्य द्रव्य की उपलब्धि हेतु पूरे ग्राम में परिभ्रमण करे। यदि ग्राम में अभीप्सित द्रव्य उपलब्ध न हो तो ग्रामान्तर से लाए किन्तु ग्लान की उपेक्षा न करें। इस प्रकार बृहत्कल्प भाष्य में ग्लान आदि की सेवा के परिप्रेक्ष्य में विस्तार से विवेचन किया गया है।[11] स्थिरीकरण और साधर्मिक वात्सल्य का एक अमोघ उपक्रम है — वैयावृत्त्य।

वैयावृत्त्य के प्रकार —

वैयावृत्त्य के दस प्रकार हैं। वैयावृत्त्य के दस प्रकार सेवा लेने की पात्रता के आधार पर किए गए हैं। वे इस प्रकार हैं —

1. आचार्य का वैयावृत्त्य	2. उपाध्याय का वैयावृत्त्य
3. स्थविर का वैयावृत्त्य	4. तपस्वी का वैयावृत्त्य
5. ग्लान का वैयावृत्त्य	6. शैक्ष का वैयावृत्त्य
7. कुल का वैयावृत्त्य	8. गण का वैयावृत्त्य
9. संघ का वैयावृत्त्य	10. साधर्मिक का वैयावृत्त्य

वैयावृत्त्य का उक्त वर्गीकरण स्थानांग सूत्र में उपलब्ध होता है।[12] औपपातिक और व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में भी ये ही दसों प्रकार हैं किन्तु वहाँ क्रम की कुछ भिन्नता है।[13] तत्त्वार्थ सूत्र में वैयावृत्त्य के दस प्रकारों में स्थविर और साधर्मिक — ये दोनों नहीं हैं। वहां इसके स्थान पर साधु और समनोज्ञ — इन दोनों का उल्लेख है।[14]

वैयावृत्त्य के उपर्युक्त प्रकारों में आचार्य, उपाध्याय आदि की वैयावृत्त्य का उल्लेख है किन्तु तीर्थंकर की वैयावृत्त्य का कोई उल्लेख नहीं है। प्रश्न हुआ — क्या तीर्थंकरों की वैयावृत्त्य नहीं करनी चाहिए? क्या तीर्थंकरों की सेवा से कर्मनिर्जरा नहीं होती? इस प्रश्न के समाधान में भाष्यकार ने कहा — वैयावृत्त्य के दस भेदों में 'आचार्य' का निर्देश है। वहां आचार्य पद प्रतीकात्मक है। आचार्य के ग्रहण से तीर्थंकर का ग्रहण स्वतः हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि हम शाब्दिक दृष्टि से विचार करें तो आचार्य वह कहलाता है जो स्वयं आचार का पालन करता है तथा दूसरों को आचार की अनुपालना के लिए अभिप्रेरित करता है। इस दृष्टि से तीर्थंकर को भी आचार्य कहा जा सकता है।

भगवती सूत्र में तीर्थंकर के लिए धर्माचार्य पद प्रयुक्त हुआ है। स्कन्दक ने गौतम गणधर से पूछा — भंते! आपको यह अनुशासन किसने दिया? उस समय गौतम ने प्रत्युत्तर में यही कहा — 'धम्मायरिएण' अर्थात् धर्माचार्य ने। वहां धर्माचार्य पद मूलतः तीर्थंकर का ही वाचक है।[15] वैयावृत्त्य के दसों ही भेद संयत मनुष्य के विभिन्न पदों व अवस्थाओं से संबद्ध हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निशीथ चूर्णि में चूर्णिकार ने वैयावृत्त्य की भिन्न ढंग से व्याख्या की है। उनके अनुसार व्यक्ति द्रव्यतः एवं भावतः अपना व दूसरों का जो भी उपकार करता है, वह सारा वैयावृत्त्य है। वहां वैयावृत्त्य के तीन अन्य प्रकारों का निर्देश है—

1. अनुशिष्टि, 2. उपालम्भ और 3. उपग्रह।

1. अनुशिष्टि—किसी को उपदेश देना अथवा किसी की प्रशंसा कर उसे आगे बढ़ाना अनुशासन है। अनुशासन स्वयं पर होता है, अनुशासन दूसरों पर होता है और दूसरों के द्वारा भी होता है। अनुशासन करने वाला सामने वाले का उपकार करता है, उसका हितवर्धन करता है। इस दृष्टि से अनुशासन को ही वैयावृत्त्य का एक प्रकार माना जा सकता है।

2. उपालम्भ—अनाचार-आसेवन के कारण दी जाने वाली प्रेरणा उपालम्भ है। उपालम्भ देने वाला आसेवी पुरुष को दोषमार्ग से निवृत्त कर करणीय की दिशा में प्रेरित करता है। इस दृष्टि से उपालम्भ भी उपकार है, फलतः वैयावृत्त्य का एक प्रकार है। चूर्णिकार ने प्रस्तुत सन्दर्भ में आर्या मृगावती का उदाहरण दिया है। प्रवर्तिनी चन्दनबाला ने आर्या मृगावती को उपालम्भ दिया। वही उपालम्भ उसके आत्मचिन्तन में निमित्त बना। परिणाम-धारा निर्मल-निर्मलतर होती चली गई। सारे बंधन टूट गए। जीवन कैवल्य के आलोक से जगमगा उठा।

3. उपग्रह—उपग्रह का अर्थ है-उपकार। यह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। किसी असमर्थ को अशन, पानी आदि लाकर देना द्रव्यतः उपग्रह है। एक आचार्य या बहुश्रुत अपने शिष्य समुदाय को सूत्रार्थ की वाचना देता है, वह भावतः उपग्रह है। चूर्णिकार ने ग्लान की सेवा को भावतः उपग्रह माना है। ग्लान की सेवा शुश्रूषा करने वाला शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से अनुकूलता पैदा करता है। अतः वह भावतः उपग्रह है।[16]

संघीय साधना और वैयावृत्त्य—

साधना की दो पद्धतियां हैं—जिनकल्प और स्थविरकल्प। जिनकल्प की साधना स्वीकार करने वाले उत्कृष्ट संहनन वाले होते हैं। उनका संकल्प और धैर्य वज्र की दीवार की भाँति अभेद्य होता है। वे परिकर्म से सर्वथा मुक्त रहते हुए एकाकी विहरण करते हैं। वे न दूसरों को सहयोग देते हैं और न दूसरों से सेवा और सहयोग स्वीकार करते हैं। स्थविरकल्प की साधना संघबद्ध साधना है। संघ में रहकर साधना करने वालों को संघ त्राण देता है। इसीलिए संघ को आश्वास, विश्वास, प्रतिष्ठा और आधार माना गया है।

संगठन की सुदृढ़ता का एक बड़ा आधार है—सेवा। संघीय साधना में सेवा और सहयोग का महत्त्व और बढ़ जाता है। संघ की शरण लेने वाले को कभी यह चिन्ता नहीं करनी पड़ती कि बीमारी की अवस्था में मेरी सेवा-शुश्रूषा कौन करेगा? मुझे आहार, औषध आदि लाकर कौन देगा? बुढ़ापे में सहारा कौन बनेगा? कौन मुझे सहानुभूति के दो शब्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहेगा ? संघ रूपी कल्पवृक्ष की छांव में रहने वाला निश्चिन्तता की नींद सो सकता है, क्योंकि आचार्य स्वयं संघ के प्रत्येक सदस्य के योगक्षेम की चिन्ता करते हैं। वे सबकी चित्तसमाधि और मन:प्रसत्ति में योग देकर विपुल कर्म निर्जरा करते हैं।

संघीय साधना के सन्दर्भ में सेवा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए भाष्यकार ने चार कारणों का उल्लेख किया है —

लोगविरुद्धं दुप्परिचओ उ कयपडिकिई जिणाणा य।
अतरंतकारणेते तदट्ठ ते चेव विज्जम्मि॥

1. जिस संघ में तपस्वी, बाल, वृद्ध, ग्लान आदि की सेवा नहीं होती, वह संघ लोकापवाद का पात्र बनता है। किसी को असहाय अवस्था में तड़पते देख लोग परस्पर चर्चा करते हैं — धिक्कार है ऐसे धर्म को जो अपने अंगभूत सदस्यों की उपेक्षा करता है। धिक्कार है ऐसे संघ को जहां व्यक्ति को अशक्य अवस्था में अनाथ छोड़ दिया जाता है। क्या ऐसा व्यवहार करना धर्म और न्याय के खिलाफ नहीं है ? क्या ऐसा अमानवीय व्यवहार धर्म के क्षेत्र में शोभा देता है ? इस प्रकार ग्लान आदि की उपेक्षा करने वाला संघ चारों ओर से अहवेलना को प्राप्त करता है।

2. एक शासन में दीक्षित होने वालों का सम्बन्ध लोकोत्तरिक होता है। परिणामस्वरूप वह अपरिहार्य होता है। लौकिक संबंधों के धागे से बन्धे लोग भी अपने साधर्मिक बंधु को हर स्थिति में सहारा देते हैं। साधुओं का संबंध आत्मा की पवित्रता पर आधारित होने से लोकोत्तर होता है। इसलिए संघ में रहने वालों को कभी किसी की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

3. संघ में दीक्षित होने वाला जब तक समर्थ रहता है, संघ को अपनी सेवाएँ प्रदान करता है। जो आज वृद्ध अथवा ग्लान है, उसने अतीत में सेवा कर संघ का सुयश बढ़ाया है। आज उसे अपेक्षा है तो उसकी उपेक्षा क्यों ? प्रत्युपकार का दुर्लभ अवसर मान उसकी अग्लान-भाव से वैयावृत्त्य करनी चाहिए अथवा जो आज ग्लान है, वह जब स्वस्थ हो जाएगा, संघ को अहोभाव के साथ अपनी सेवाएँ देगा, अपनी नि:स्पृह सेवाभावना से शासन की श्रीवृद्धि करेगा। अत: ग्लान, तपस्वी आदि की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

8. 'ग्लानस्य अग्लान्या वैयावृत्त्यं कुर्यात्' — ग्लान की अग्लान-भाव से सेवा करें — यह तीर्थंकरों की आज्ञा है। वैयावृत्त्य करने वाला तीर्थंकरों की आज्ञा की अनुपालना करता है। जो ग्लान आदि की उपेक्षा करता है वह प्रायश्चित्त का पात्र और आज्ञा का विराधक बनता है।

इन सारे कारणों को दृष्टिगत रखते हुए जो ग्लान आदि की सेवा करता है वह आत्मगुणों का संवर्धन और तीर्थ की महान् प्रभावना करता है।[17]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयावृत्त्य के अर्ह-अनर्ह कौन ?

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान आदि की वैयावृत्त्य में उसी को नियुक्त किया जाता है जो योग्य होता है। सेवा करने वाले को कई बार अपवाद मार्ग का आलम्बन लेना पड़ता है। रोगी की मानसिक प्रसन्नता बनी रहे, लोक व्यवहार में संघ की अवहेलना न हो, रोगी की परिणामधारा अविचल रहे — इन सबका दायित्व भी सेवा करने वाले पर रहता है। इसलिए सेवा के दायित्व का सम्यक् निर्वहन वही कर सकता है जो अर्ह होता है। ओघ निर्युक्ति भाष्य, निशीथ भाष्य, बृहत्कल्प भाष्य आदि अनेक प्राचीन ग्रंथों में योग्यता की कसौटियां प्राप्त होती हैं —

अलसं धसिर सुविरं खमगं कोह-माण-माय-लोहिल्लं।
कोऊहल, पडिबद्धं वेयावच्चं न कारिज्जा॥
एयद्दोसविमुक्कं कडजोगिं नायसीलमायारं।
गुरुभत्तिमं विणीयं वेयावच्चं तु कारिज्जा॥

वैयावृत्त्य के योग्य वही होता है जो काफी अंशों में आलस्य और निद्रा पर विजय प्राप्त कर लेता है। जो रसलोलुप और विषयासक्त नहीं होता। तपस्वी को भी वैयावृत्त्य के अर्ह नहीं माना गया। जो तपस्वी गुरु, ग्लान आदि के प्रयोग्य द्रव्यों की गवेषणा में ही लगा रहता है, वह अपनी उपेक्षा कर देता है। धीरे-धीरे वह दुर्बल हो जाता है। जो तपस्वी देहासक्त होता है, वह स्वप्रायोग्य द्रव्यों की गवेषणा में ही ज्यादा समय व्यतीत कर देता है। परिणामतः वह गुरु ग्लान आदि की सम्यक् सेवा नहीं कर पाता।

क्रोध, अहंकार, माया और लोभ — ये चारों साधना के हर पड़ाव पर गत्यवरोध पैदा करते हैं। गुरु आदि के प्रायोग्य पथ्य की गवेषणा में सफल वही होता है, जिसका क्रोध प्रतनु होता है। क्षण-क्षण में आविष्ट होने वाला थोड़ी-सी प्रतिकूलता में ही फुफकार उठता है। अभीप्सित वस्तु न मिलने पर वह गृहस्थ के सामने ही अनर्गल प्रलाप शुरू कर देता है। "अमुक वस्तु तुम नहीं देना चाहते तो मत दो। क्या हमने तुम्हारे आधार पर प्रव्रज्या ग्रहण की है ? यह गर्व कभी मत करना कि अमुक वस्तु मैं दूँगा, तभी मिलेगी।" — इस प्रकार के दुर्वचन रूपी कांटों से उसका कोमल मन छलनी कर देता है। इतना ही नहीं, उसकी श्रद्धा को भी विपथगामी बना देता है।

अहंकार सफलता की सबसे बड़ी बाधा है। वैयावृत्त्य करने वाला घरों में भिक्षा आदि के लिए जाता है। उस समय मुनि को घर में आया देख गृहस्थ तत्काल खड़ा नहीं होता अथवा समुचित वंदना, अभ्युत्थान आदि में प्रमाद कर देता है। अहंकार से ग्रस्त साधु बर्दाश्त नहीं कर पाता। वह तत्काल बोल पड़ता है — "एक श्रावक और गृहस्थ में भेद ही क्या ? भिक्षा तो हमें अन्य घरों में भी उपलब्ध हो जाती है। श्रावक होकर भी जो हाथ नहीं जोड़ते, वंदना आदि नहीं करते तो फिर उनके घरों में जाने की सार्थकता ही क्या ?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार एकान्त आग्रह से बंधा वह श्रावकों के घर भिक्षार्थ आना बन्द कर देता है। अन्य गृहों में अपेक्षित द्रव्य की उपलब्धि नहीं हो पाती। फलतः आचार्य, ग्लान आदि से परितप्ति होती है। अहंकारी की भाँति मायावी भी सम्यक् वैयावृत्त्य नहीं कर सकता। मायावी प्रायोग्य पथ्य द्रव्यों को उपाश्रय से बाहर स्वयं ही खा लेता है। रूखी-सूखी चीजें उपाश्रय में लेकर आता है अथवा वह प्रायोग्य द्रव्यों को रूखी-सूखी वस्तुओं से ढ़ककर गुरु को भिक्षा दिखाता है। इस तरह मायावी भी गुरु आदि की अनुकूलता को कम और अपनी अनुकूलता को ज्यादा महत्त्व देता है।

लुब्ध व्यक्ति भी सेवा के योग्य नहीं होता। वह अपनी पदार्थासक्ति के कारण सीधा स्थापनाकुलों (विशिष्ट कुलों) में पहुँच जाता है। इतना ही नहीं, वह विशिष्ट द्रव्यों को मांगकर भी ग्रहण कर लेता है। परिणामतः गृहस्थ की श्रद्धा निश्छिद्र नहीं रह पाती।

कुतूहलप्रिय और सूत्रार्थ से प्रतिबद्ध व्यक्ति भी सेवा के कार्य में सफल नहीं हो सकता। भिक्षा के लिए जाते समय मार्ग में अनेक सुन्दर दृश्य आंखों के सामने आते हैं। मधुर ध्वनियां कानों से टकराती हैं। सुगन्धित द्रव्य भी बार-बार मन को आकृष्ट करते हैं। कौतुक प्रिय व्यक्ति उन्हीं में उलझ जाता है। वह सही समय पर कोई कार्य नहीं कर पाता।

जीवन में स्वाध्याय का बहुत महत्त्व है। किसी भी परम्परा की अव्यवच्छित्ति का बड़ा आधार है — सूत्रार्थ की अव्यवच्छित्ति। किन्तु जहां सेवा का प्रसंग हो वहां सूत्रार्थ की प्रतिबद्धता भी बाधक बन जाती है। साधना के क्षेत्र में कहीं कोई प्रतिबद्धता नहीं होनी चाहिए। जब जिस कार्य की मुख्यता हो उसी को कर्म निर्जरा का हेतु मान साधक उसी में व्यापृत हो जाये — यह सर्वोत्तम मार्ग है। किन्तु कभी-कभी अध्ययन का आकर्षण इतना प्रबल होता है कि वह उसे किसी भी स्थिति में गौण नहीं कर पाता। परिणामतः सेवा गौण हो जाती है और अध्ययन सर्वोपरि हो जाता है।

भाष्यकार ने सेवार्थी की अर्हताओं का उल्लेख करते हुए स्पष्ट लिखा है — वैयावृत्त्य के अर्ह वही हो सकता है जो उपर्युक्त सभी दोषों से मुक्त हो। जो गीतार्थ, शीलसंपन्न, गुरु के प्रति भक्तिमान और विनीत हो।[18]

वैयावृत्त्य की महत्ता

एक बहुत प्रचलित उक्ति है — "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" — श्रेय कार्य में अनेक विघ्न आते हैं। विघ्नों के कारण कार्य पूरा होते-होते रुक जाता है। जैन कर्म-मीमांसा के अनुसार विघ्नों का कारक है — अन्तराय कर्म। अन्तराय कर्म प्रबल रहता है, विघ्नों की श्रृंखला सी लग जाती है। जो मुनि आहार, उपधि, औषधि आदि के द्वारा साधुओं की वैयावृत्य करता है, विघ्नों की श्रृंखला सी लग जाती है। जो मुनि आहार, उपधि, औषधि आदि के द्वारा साधुओं की वैयावृत्त्य करता है, वह अन्तराय कर्म की मजबूत श्रृंखला को भी तोड़ देता है।[19] सेवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाला पादप्रक्षालन, म्रक्षण, मर्दन आदि के द्वारा आचार्य, तपस्वी, ग्लान आदि की चित्तसमाधि में योगभूत बनता है।

जिस प्रकार दूसरों का अहित करने वाला सर्वप्रथम अपना अहित करता है, उसी प्रकार दूसरों को समाधि पहुंचाने वाला स्वयं भी समाधिस्थ रहता है। दूसरों को सुख और साता देने वाला स्वयं के लिए सुखद परमाणुओं का उपार्जन कर लेता है। वह शरीर से स्वस्थ और मन से प्रसन्न रहता है। उसकी आंतरिक पवित्रता उत्तरोत्तर विकसित होती रहती है। इस प्रकार सेवा करने वाला सर्वसमाधि को प्राप्त करता है।[20]

जो आचार्य, उपाध्याय आदि की सेवा करता है वह उत्कृष्ट कर्म निर्जरा और उत्कृष्ट पुण्यबंध करता है। जितना-जितना शुभयोग, उतनी-उतनी निर्जरा। जितनी-जितनी निर्जरा उतना-उतना पुण्यबंध। सेवा का कार्य एक पवित्र महायज्ञ है। इस महायज्ञ में अपनी आहुति देने वाला उत्कृष्ट पुण्यों का संचय करता है। जैन परम्परा के अभिमत से जब सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति का उदय होता है, प्राणी 'तीर्थंकर' बनता है। निःस्वार्थ भाव से सेवा करने वाला तीर्थंकर नामगोत्र कर्म का बंधन करता है।[21]

सेवार्थी अपनी विनम्रता से अहंकार का विलय कर देता है। विनम्र व्यक्ति कभी किसी की अवज्ञा नहीं करता। किसी का परिवाद या निन्दा नहीं करता। परिणामस्वरूप वह नैरयिक, तिर्यक् योनिक, मनुष्य और देवता संबंधी दुर्गति का निरोध कर देता है।[22] सेवा की इसी महनीयता से आकृष्ट होकर वृत्तिकार मलयगिरी, द्रोणसूरि आदि ने स्वयं भगवान् महावीर के मुंह से कहलवाया—

''जं मं पडियरइ सो गिलाणं पडियरइ''

अर्थात् जो ग्लान की सेवा करता है वह मेरी सेवा करता है।[23] भगवती आराधना में आर्य शिव ने वैयावृत्त्य से निष्पन्न गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है—

गुण परिमाणो सड्ढा वच्छल्लं भत्तिपंतलंभो य।
संधाणं तव पूया य अवोच्छित्ति समाधी य।

वैयावृत्त्य करने से गुण परिणाम होता है अर्थात् वह अनेक विशिष्ट गुणों से सुरक्षित होता है तथा जिसकी वैयावृत्त्य की जाती है वह अपने गुणों से च्युत नहीं होता। जैसे-जैसे गुण बढ़ते हैं, श्रद्धा स्वतः प्रवर्धमान होती है। उसका वात्सल्य अर्थात् धर्मानुराग पुष्ट होता है। वीतरागता के प्रति विशेष आदर का भाव जागृत होता है। वैयावृत्त्य से पात्रलाभ होता है अर्थात् शासन में योग्य व्यक्ति दीक्षित होते हैं। किसी कारणवश सम्यक्त्व आदि विच्छिन्न हो गए हों तो पुनः उनका संधान हो जाता है। वैयावृत्त्य करने वाले के तप होता है। उसकी लोक में पूजा होती है। वैयावृत्त्य से संघ की परम्परा विच्छिन्न नहीं होती। अन्ततः सेवा करने वाला प्रवर आत्मसमाधि को प्राप्त होता है।[24]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयावृत्त्य का वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से महत्व है। स्थानांग सूत्र में अपनी व दूसरों की सेवा के आधार पर चार प्रकार के पुरुषों का उल्लेख किया गया है। उत्तम पुरुषों की गणना में वे आते हैं जो अपेक्षा होने पर सेवा लेते हैं तो अवसर आने पर दूसरों की सेवा और सहयोग के लिए तत्पर भी रहते हैं।

सेवा और स्वाध्याय दोनों ही तपस्या के भेद हैं पर दोनों में अन्तर है। स्वाध्याय करने वाला स्वयं को ही लाभान्वित करता है जबकि सेवा करने वाला स्वयं को और सेवा करने वाले को दोनों को लाभान्वित करता है। इतना ही नहीं, स्वाध्याय करने वाला भी यदि रोगाक्रान्त हो जाता है तो उसे भी वैयावृत्त्य करने वाले की ओर देखना पड़ता है। इस दृष्टि से सेवा का स्थान स्वाध्याय से ऊपर हो जाता है।

सेवा का महत्त्व प्राचीनकाल में ही था, ऐसा नहीं है। आज भी सेवा का प्रसंग सामने हो तो सेवा मुख्य व अन्य सारे कर्म गौण हो जाते हैं। सेवा करने वाला रोगी के साथ अद्वैत स्थापित कर लेता है। वह रोगी की देह को अपनी देह मानकर परिचर्या करता है। आज विश्व भर में ईसाई मत का व्यापक प्रचार है। इसका कारण सेवाभावना ही है। ईसाई धर्म में सेवा को बहुत ज्यादा महत्त्व दिया गया है। मदर टेरेसा ने एकमात्र सेवा-भावना के आधार पर विश्व का सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार प्राप्त किया था। फादर विलियेन ने लम्बे समय तक कोढ़ियों की सेवा की। उस क्षण उनके आनन्द का कोई पार नहीं रहा जब वे स्वयं कोढ़ के रोग से ग्रस्त हो गए। उन्हें लगा कि अब मैं अपने भाइयों की सेवा और अच्छी तरह कर सकूंगा।

सामान्य धरातल पर खड़े होकर चिन्तन करते हैं तो प्रश्न होता है क्या ऐसा संभव है? कठिनाई के क्षणों में भी क्या आनन्द की अनुभूति की जा सकती है? गहराई से विचार करें तो लगता है — ऐसा संभव है। जिस व्यक्ति के भीतर करुणा और संवेदना की धाराएँ सतत प्रवहमान रहती हैं उसके हाथ सेवा के लिए स्वतः ऊपर उठ जाते हैं। वह दूसरों की विपदा को अपनी विपदा समझता है और दूसरों के सुख में ही अपने सुख की खोज करता है। अपेक्षा है — करुणा और संवेदना ही हरीतिमा उत्तरोत्तर बढती रहे।

सन्दर्भ :

1. उत्तरज्झयणाणि 30.6
2. उत्तराध्ययन बृहदवृत्ति, पृ. 600
3. वही, पृ. 609
4. सवार्थसिद्धि 9.20
5. तत्त्वार्थ राजवार्तिक 9.28
6. व्यवहार भाष्य गा. 4675-81
7. ठाणं 5/44, 45

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8. तत्त्वार्थ राजवार्तिक 9.24
9. उत्तरज्झयणाणि 26/12
10. उत्तरज्झयणाणि 26.9, 10
11. बृहत्कल्पभाष्य गा. 1860-81
12. ठाणं 10.16
13. क. अंगसुत्ताणि-II, भगवई 25.598
    ख. उवंगसुत्ताणि-I, ओवाइयं सू. 41
14. तत्त्वार्थसूत्र 9.24
15. व्यवहारभाष्य गा. 4684-86
16. निशीय भाष्य गा. 6605-10 चूर्णि, पृ. 365-66
17. बृहत्कल्पभाष्य गा. 1862
18. क. वही, गा. 1592, 1601
    ख. निशीथ भाष्य गा. 1640, 42
    ग. ओघनिर्युक्ति भाष्य गा. 133, 134
19. वही, गा. 534
20. वही, गा. 534, 536
21. उत्तरज्यणाणि 29.44
22. वही 19/5
23. ओघनिर्युक्ति वृत्ति पत्र 39
24. भगवती आराधना गा. 311

सम्पर्क :
जैन विश्व भारती
लाडनूं - 341 306 (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन और गीता में समानता

—पं. विश्वनाथ मिश्र

दृश्यमान जगत् में दो ही तत्त्व हैं — एक तो दृश्य और दूसरा अदृश्य। एक जड़ तो दूसरा चेतन। एक नित्य प्राप्त, तो दूसरा क्षणे क्षणे विलीयमान। एक का भास तो दूसरे की प्रतीति। जिसकी प्रतीति होती है, वह व्यवहारोपयोगी तो है किन्तु परमार्थ नहीं है। परमार्थ तो वही है जिसका भास होता है। जो केवल व्यवहार को ही सर्वस्व मान बैठे हैं उन्हें परमार्थ की अनुभूति कथमपि संभव नहीं है। यदि जड़भूत समष्टि दृश्यमान ही सब कुछ है तब मरे हुए शरीर के प्रति आकर्षण क्यों नहीं होता? इसलिए यह मानना चाहिए कि सर्वावभासक, सबका प्रेरपिता देहातिरिक्त एक आत्मतत्त्व है जो नित्य अखण्ड, अच्छेद्य, अभेद्य तथा सर्वोपाधि विवर्जित है। कितनी विलक्षण बात है कि अनेक मतभेदों के रहते हुए भी वैदिक और जैन — दोनों परम्पराओं में यह आत्मतत्त्व निर्विवाद रूप से मान्य है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्मस्वरूपोपलब्धि या दुःखत्रय का एकान्तिक नाश है।

इस निबन्ध का विषय है उत्तराध्ययन और गीता। दोनों में विषय के वैविध्य होने पर भी इस लेख में आत्मवाद, कर्मवाद और मानव जीवन की दुर्लभता जैसे कतिपय विषय ही विवेच्य हैं। जन्म से कर्म और कर्म से जन्म यह परम्परा अनादि है। मानव जीवन ही चरम लक्ष्य की सिद्धि में एकमात्र कारण है। यह बात निर्विवाद है किन्तु यह जन्म दुर्लभ है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि संसारी जीव नाना प्रकार के कर्मों का अर्जन कर कभी देवलोक, कभी नरक, कभी असुरों के निकाय में उत्पन्न होता है। सौभाग्यवश मनुष्यगति के प्रतिबन्धक कर्मों का नाश होने पर वह मनुष्यत्व को प्राप्त करता है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि —

कम्माणं तु पहाणये आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहि मणुपत्ता आययंति मणुस्सयं॥[1]

मनुष्य शरीर प्राप्त होने पर भी उस धर्म की श्रुति दुर्लभ है जिसे सुनकर जीव तप,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहिष्णुता आदि सद्गुणों को स्वीकार कर ले। गीता में भी मनुष्य जन्म की दुर्लभता की बात उसी प्रकार कही गई है —

प्राप्यपुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद् हि दुर्लभतरं लोके जन्म यहीदृशम्॥[2]

पुण्यवान् व्यक्ति स्वर्गादि उत्तम लोकों में निवास कर शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में अथवा ज्ञानवान् योगियों के घर में जन्म लेता है। ऐसा जन्म लेना दुर्लभ है।

आचार्य शंकर ने कहा है — जन्तूनां नर जन्म दुर्लभम्।

श्रीमद्भगवत में कहा गया है —

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नमस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् से आत्महा॥

मनुष्य का शरीर पुण्यवान् के लिए सुलभ है तो विपरीत आचरण वाले व्यक्ति के लिए दुर्लभ है। यह बहुत अच्छी तरह से बनायी गई नाव है। गुरु ही उस नाव का नाविक है। परमात्मा ही अनुकूल पवन है। ऐसी स्थिति में जो आत्म-कल्याण नहीं करता वह व्यक्ति आत्महन्ता है। इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि मनुष्य के आत्मकल्याण का साधन यह मनुष्ययोनि ही है। यही बात उत्तराध्ययन में केशी कुमार और गौतम मुनि के संवाद में बड़े रोचक ढ़ंग से रूपकालंकार की भाषा में कही गई है। केशी कुमार ने पूछा — इस संसार में सागर क्या है ? नौका क्या है ? नाविक कौन है ? इसके उत्तर में कहा गया -

शरीरमाहुः नावत्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारोऽर्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेषिणो।[3]

यह संसार ही अर्णव है, जीव नाविक है और शरीर ही नाव है। यहाँ उपमेय, संसार, जीव तथा शरीर में विशेषाध्यवसाय के लिए उपमान का धर्म क्रमशः अर्णवत्व, नाविकत्व तथा नौकात्व का आरोप किया गया है। इस प्रकार आलंकारिक भाषा में जीवन के स्वरूप का निरूपण अपने में अनुपम है। इतना अन्तर अवश्य है कि वैदिक परम्परा में गुरु को नाविक माना गया है और यहाँ जीव को ही नाविक माना गया है। इस थोड़े से वैषम्य के होने पर भी दोनों का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार जीव और अजीव को पार करने के लिए नाव आधार बनती है उसी प्रकार यह शरीर भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आधार बनकर संसारार्णव के उत्तरण का साधन बनता है। नौका से पार करने वाले लोग नौका से पार करके नौका को छोड़कर गन्तव्य स्थान पर चले जाते हैं। इसी प्रकार संसार सागर को पार करके जीव इस शरीर को छोड़कर मोक्ष में चले जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गीता और उत्तराध्ययन की समानता भी यहाँ द्रष्टव्य है। उत्तराध्ययन में केशी कुमार के प्रश्न का उत्तर मुनि गौतम देते हैं। मुनि के उत्तर देने के बाद केशीकुमार कहते हैं —

साहु गोयम। पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।

इसी प्रकार का प्रश्न गीता में अर्जुन ने भी किया था —

के र्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतां भवति प्रभो।
किमाचारः कथंचैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते॥

मनुष्य सत्व, रजस् तथा तमोगुणों से अतीत अर्थात् गुणातीत कब होता है ? गुणातीत का आचरण कैसा होता है।

अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा-

मानापमानयोस्तुल्पस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥[4]

तात्पर्य यह है कि जो मान-अपमान में सम है, जो मित्र और शत्रु में सम है तथा समस्त कार्यों के आरम्भ में अपने कर्तृत्व का भान न रखें, वही गुणातीत है। वह यह समझता है कि क्रिया तो प्रक्रिया में हो रही है। मैं तो उससे पृथक् हूँ। यही गुणातीत की पहचान है। अर्जुन कहता है —

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत् प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥[5]

कर्मवाद् — कर्म एक ऐसा तत्त्व है जिसका विवेचन प्रत्येक दर्शन में पाया जाता है। गीता और उत्तराध्ययन में भी इस विषय के ऊपर गम्भीर विचार किया गया है। गीता में कहा गया है —

नहि कश्चित् क्षणमपिजातुतिष्ठत्यकर्मकृत।[6]

इस संसार में कोई भी प्राणी कर्म किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। यह जगत् प्रकृति का विकार है। **प्रकर्षेण कृतिः क्रिया यत्र सा प्रकृतिः।** जहाँ निरन्तर क्रिया हो रही है वही प्रकृति है। जीव कर्म की यह परम्परा अनादि है। कर्म क्या है ? इस बात को परिभाषित करते हुए आचार्य तुलसी लिखते हैं प्राणी की अपनी शुभ और अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट पुद्गल स्कन्ध जो आत्मा के साथ एकीभाव हो जाता है, उसे कर्म कहा जाता है। जैन तत्त्व विद्या, गीता तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में क्रिया मात्र को कर्म कहा गया है। कर्म के अनेक भेद जैनदर्शन में किये गये हैं। वैदिक परम्परा में भी नित्य नैमित्तिक, काम्य, उपासना आदि भेद किये गये हैं, किन्तु सबको शुभ और अशुभ दो भागों में बाँटा जा सकता है। शुभ कर्म का फल शुभ तथा अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है। अपने से किये गये कर्म का फलभोग स्वयं ही करना पड़ता है। उत्तराध्ययन में लिखा है —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न तस्स दुःखं विभयंति नाइओ।
न मित्त वग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं
कत्तारमेवं अणुजाइ कम्म॥[7]

गीता में कर्मवाद का विवेचन बड़े विस्तार से किया गया है। वहाँ शुभ कर्मों का फल शुभ और अशुभ कर्मों का फल अशुभ बताया गया है।[8]

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम्।
सत्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च॥
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥
ऊर्ध्वगच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्य गुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः॥

इस प्रकार सात्विक, राजस और तमस रूप से कर्म का विवेचन करके गीता में उनका फल क्रमशः ऊर्ध्व, मध्य और अधोगति को बताया गया है। यह कर्मफल स्वयं को मिलता है, जैसा कि उत्तराध्ययन में भी कहा गया है।

कर्म का फल कैसे मिलता है? कौन फल को देता है? इस बात में गीता और जैनदर्शन का मतभेद है। जैनदर्शन के अनुसार कर्म अपना फल स्वयं देते हैं। उसके लिए किसी नियामक की आवश्यकता नहीं मानी गई है। गीता में कहा गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

जीव को कर्म करने में तो अधिकार है किन्तु फल में उसका अधिकार नहीं है। अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन अल्पज्ञ अल्पशक्तिमत्व होने के कारण कर्म के फल और उसके प्रकार तथा अवधि की जानकारी नहीं रखता। इसलिए कर्मफलदायक के रूप में सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर की अपेक्षा स्वीकृत है। वही कर्म का फल देता है।

कर्म स्वयं फल देते हैं। यह बात इसलिए मनोग्राह्य नहीं होती है, क्योंकि कर्म जड़ हैं। उन्हें अपना और अपने फल का पता ही नहीं होता है। यदि कर्म को चेतन मान लिया जाता है तो नाम मात्र का मतभेद रह जाता है। गीता और उत्तराध्ययन की एकता ही हो जाती है।

इस भीषण भवाटवी में अन्तहीन चंक्रमण करता हुआ यह जीव कब इस भवार्णव को पार करेगा? यह सुख-दुःख का भोक्ता कब तक रहेगा? इन प्रश्नों का उत्तर गीता तथा उत्तराध्ययन में समान रूप से ही दिया गया है।

अप्पा णई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुप्पट्ठियो॥[9]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूट शाल्मली (कांटेदार) वृक्ष है। आत्मा ही कामदुध धेनू है और आत्मा ही नन्दन वन है। आत्मा ही दु:ख-सुख की करने वाली है। सम्प्रवृत्ति में लगी आत्मा मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी आत्मा शत्रु है।

इस वचन के द्वारा यह बताया गया कि अच्छे और बुरे कर्मों का कर्त्ता और उनका फल भोक्ता आत्मा स्वयं है। इसका कर्तृत्व स्वतन्त्र है। आवश्यकता इस बात की है कि यह सत्प्रवृत्ति में प्रवृत्त रहे और अपनी ऊर्ध्वगति का सम्पादन करे। गीता में कहा गया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मवस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥[10]

संसार सागर से अपना उद्धार स्वयं करता है। यह मनुष्य अपना ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। जिस जीवत्मा ने मन और इन्द्रियों सहित शरीर को जीत लिया, उस जीवात्मा का तो वह मित्र है और जिसने नहीं जीता वह आप ही शत्रु के समान है।

यहाँ आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के सम्बन्ध में दोनों जगह एक ही बात कही गयी है।

आसक्ति दु:ख का कारण है। इसलिये आवश्यक है कि अनासक्त होकर कर्म किया जाए। इस बात को उत्तराध्ययन और गीता में समान रूप से कहा गया है—

जे केई सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा॥[11]

गीता कहती है[12] —

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्वभारत।
ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

इन्द्रिय और विषय के सम्पर्कजन्य जो भोग हैं वे तो दु:ख के ही कारण हैं। इसलिए बुद्धिमान् लोग इसमें रमण नहीं करते हैं।

आत्मकल्याण के इच्छुक व्यक्ति की स्थिति कैसी होनी चाहिये। इस विषय में उत्तराध्ययन और गीता की समानता द्रष्टव्य है[13] —

लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविये मरणे तहा।
समो निन्दा पसंसासु तहा माणावमाणओ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्ग विवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥[14]

वहाँ गीता और उत्तराध्ययन की भाषा तथा भाव दोनों समान रूप से एक ही तथ्य को प्रकाशित कर रहे हैं।

जो अविवेकी संसारी प्राणी हैं, वे स्व-पर भेद में आकण्ठ मग्न होकर कहते हैं कि[15] —

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
त एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरेन्ति त्ति कहं पमाए॥

यह मेरा है, यह मेरा नहीं है। यह मेरा कृत्य है, यह कृत्य नहीं है, इस रूप से कहते हुए मनुष्य काल के गर्त में समा जाते हैं। इसी की समानार्थक बात गीता में कही गयी है —

इदमद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

इस प्रकार कहने वाले जागतिक विषयाक्रान्त मनुष्य कभी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते। उनका जन्म-मरण का चक्र बराबर चलता ही रहता है। उत्तराध्ययन का प्रारम्भ विनय के द्वारा हुआ है। गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करते हुए गुरु की शुश्रूषा करने वाला व्यक्ति ही ज्ञानोपलब्धि पुरःसर आत्मकल्याण करता है। गीता में भी यही बात कही गई है कि-

"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परं संयतेन्द्रियः।"

संयतेन्द्रिय श्रद्धावान् व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ज्ञान ही अज्ञान को मिटाने का साधन है। अज्ञान की निवृत्ति ही मुक्ति है। इस प्रकार उत्तराध्ययन और गीता अपवर्ग के साधक प्रमुख ग्रन्थ रत्न है, इसमें सन्देह नहीं है।

सन्दर्भ :

1. उत्तराध्ययन, 3/7
2. गीता, 6/41-42
3. उत्तराध्ययन, 23/63
4. गीता, 14/25
5. वही, 18/73
6. वही, 3/5
7. उत्तराध्ययन, 12/23
8. उत्तराध्ययन, 14/12, 14/16
9. उत्तराध्ययन
10. गीता 6/5-6
11. वही 6/11
12. वही 2/14, 5/22
13. उत्तराध्ययन, 19/90, गीता, 13/18
14. गीता, 13/14
15. उत्तराध्ययन, 14/15

आचार्य, ब्राह्मी विद्यापीठ
लाडनूं - 341 306 (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जलों की महत्ता एवं संरक्षण वैदिक अवधारणा

—डॉ. नन्दिता सिंघवी

सृष्टि के प्रारम्भ में केवल जल ही सर्वत्र व्याप्त था—**अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्**[1]। सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान आपस् ने सर्वप्रथम विश्व का संरक्षण किया। आपके भीतर यह ब्रह्माण्ड स्थित है, इसलिए उसे आपः का गर्भ कहा गया है[2]—**आपे अग्रे विश्वमावन् गर्भ दधाना अमृताः ऋतज्ञा**। आपस् सृष्टि के निर्माण में महत्त्पूर्ण सहायक शक्ति है, अतः ब्रह्म रूप है—"**महद् ब्रह्म**"[3]। जलों में सभी देवता प्रविष्ट हैं—**प्रविष्टाः देवा सलिलान्यासन्**[4]। जलों में सब देवों का निवास हैं, अतः कहा गया हैं—**आपो वै सर्वा देवताः**।[5]

इस प्रकार जल इस सृष्टि के संरक्षक, ब्रह्मरूप एवं देवरूप है। जलों के कारण प्राणी जगत का जीवन सम्भव है।[6] अथर्ववेद में ऋषि ब्रह्मा ने जल को 'जीवा', "उपजीवा", "संजीवा", और जीवला "स्वीकार कर बार-बार सर्वमायुर्जीव्यासम्" कहकर जीवन के लिए इनकी अमूल्य महत्ता प्रतिपादित की है। जलों की अतिशय महत्ता के कारण ही "**आपः**" की स्तुति से अथर्ववेद (पैप्लाद संहिता) का आरम्भ होता है। डॉ. निगम शर्मा ने "ऋग्वेद वारि" पुस्तक में जल के लिए चार सौ पच्चीस नामों की सूची दी है जिससे सिद्ध होता है कि जल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। विश्व की किसी अन्य भाषा में जल के लिए इतने पर्यायावाची शब्द उपलब्ध नहीं होते।

यास्क मुनि (11.43) का मत है कि उदक वा पय सब में श्रेष्ठ है। चराचर जगत् के लिए जलों की महत्ता के विषय में अनेक प्रकार के व्रत और मन वाले सभी प्राणी एकमत हैं—**नानामनसः खलु वै पशवो नानाव्रतास्तेऽप एवाभिमनसः**।[7] ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथर्ववेद[8] अथर्ववेद के अनुसार जल अपने स्वरूप से ही पवित्र हैं और अपने सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु को पवित्र कर देते हैं। यही कारण है कि इन्हें "शतपवित्रा" कहा गया है।[9]

जल स्वयं प्रदूषणरहित हैं और सब प्रकार के प्रदूषणों व पापों को दूर करने में सक्षम हैं-अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्[10] देवता रूप जल स्नान, आचमन और प्रोक्षण आदि करने वालों के सम्पूर्ण पापों को स्नान, आचमन और प्रोक्षण आदि से बहा देते हैं[11]।

जलों में भेषज गुण विद्यमान है-अप्सु भेषजम्।[12]। जल व्याधि दूर करने वाली औषधियों में परम चिकित्सा कुशल हैं — भिषजां सुभिषक्तमा।[13] ।

शुद्ध, दिव्य व पवित्र जलों में औषधगुण प्रचुर मात्रा में होते हैं। अथर्ववेद (6.91.3) का मानना है कि सब औषधियां जल की ही विकार है, इस प्रकार जल ही रोगों का नाश करने वाली औषधि है। जलों में केवल एक रोग नहीं अपितु सब प्रकार के रोगों की औषधियां हैं-अप्सु मे सोमो अब्रबीदन्तर्विश्वानि भेषजा।[14] ।

वेदों में जलों से हृदय रोगों की शान्ति, नेत्र एवं पाद रोगों की शान्ति, यक्ष्मा रोग, व्रण, आमवात, सड़ावट से बचाव तथा मनोरोगों के निवारण आदि का उल्लेख मिलता है। जल शरीर के लिए ज्वर आदि सब रोगों के निवारक औषधियों को प्रदान करता है, जिससे मनुष्य चिरकाल तक सूर्य के दर्शन करता है —

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।
ज्योक् च सूर्य दृशे।।[15]

जलों में अमृत है — अप्स्वन्तरमृत्[16]। अमृतगुण सम्पन्न होने से जल अपरिमित गुण वाला अमूल्य तत्त्व है। मूर्च्छित पुरुष पर जल छिड़कने पर उत्क्रान्त प्राणों को शरीर में फिर प्रवेश करते हुए देखा गया है, अतः जल अमृत-मरने से बचाने वाला है- आपस्तस्मादद्भिरवतां तमभिषिञ्चन्ति नार्तिमर्च्छति सर्वं आयुरेति।[17]।

अथर्ववेद (1.4.4) अथर्ववेद के अनुसार पशुओं में स्वास्थ्य व बल जलों के कारण हैं, क्योंकि उनमें अमृत और भेषज गुण है।

जल मानव के लिए सुखद है। वह मानव को बल या अन्न में विधृत करता है — महद् और रमणीय ब्रह्म के दर्शन के लिए —

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जो दधातन।
महे रणाय चक्षसे।।[18]

अथर्ववेद (1.5.3) अथर्ववेद में उपभोग्य रूप अन्न की प्राप्ति के लिए जलों को पर्याप्त रूप में पाने की कामना की गयी है ताकि वे धान आदि अन्नों को बढ़ाएँ तथा पुत्र और पौत्रों आदि की उत्पत्ति में सहायक हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जलों से मानव के आरोग्य व धान्य आदि सभी कामनाओं की पूर्ति होती है–आपो वै सर्वे कामा: ।[19]

अपने अमृत और भैषज आदि गुणों के कारण जल "शिवोरस" ही नहीं अपितु "शिवतमो रस" है। जलों ने माता तुल्य मानव जाति पर उपकार किया है। मानव तो केवल उसका पुत्र है — आपस्पुत्रासो।[20]।

ऋषि सिन्धुद्वीप आप: देवता से प्रार्थना करते है कि जिस प्रकार अभिलाषापूर्वक माताएं अपने पुत्र को स्तनों का रस (दूध) पिलाकर पुष्ट करती हैं, हे जलो! उसी प्रकार तुम्हारा जो परम कल्याणकारी प्रसिद्ध रस अर्थात् सारभूत अंश हैं उससे हम पुत्र रूपों की सेवा करो—

यो व: शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह न: ।
उशतीरिव मारत: ॥[21]

मानव जलों का पुत्र है, अतएव माता रूप जलों के संरक्षण के प्रति उसका विशेष दायित्व है। जल संरक्षण के लिए जलों के प्रति श्रद्धा, ज्ञान व समुचित नीति का होना आवश्यक है। वेदों में इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

वैदिक ऋषियों का अग्नि की आराधना और उसके मन की प्रसन्नता को बनाये रखने का विशेष आग्रह था। ऋग्वेद[22] ऋग्वेद के अनुसार अग्नि हंसों के समान जलों में बैठकर प्राण धारण करता है, अतएव ज्ञानी पुरुष जलों के मध्य में स्थित अग्नि की घर की तरह पूजा करके काम करते हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आर्य जलों को प्रदूषित करने के विषय में सोच भी नहीं सकते थे। उसके लिए जलों में स्थित अग्नि घर के तुल्य पूजनीय थी अर्थात् जिस प्रकार घर को स्वच्छ रखा जाता है उसी प्रकार जलों को स्वच्छ रखते थे।

ऋग्वेद[23] ऋग्वेद ने स्पष्ट कहा हैं कि यदि सभी लोग जल को प्रदूषण से मुक्त रखें तभी जल की अग्नि मानव को तेज, प्रजा और दीर्घायु प्रदान कर सकती है। अथर्ववेद[24] अथर्ववेद में ऐसी कामना की गयी है कि आकाश के मेघमण्डल से प्राप्त होने वाले और पृथ्वी पर बहने वाले जल प्रवाह मानव के लिए शान्ति देते हुए बहें। इसका तात्पर्य हैं कि मानव बहते हुए जलों को कभी प्रदूषित न करें।

अथर्ववेद[25] के अनुसार वैदिक कार्य जलों के प्रति ऐसी नीति अपनाने पर विश्वास करते थे जिससे जल प्रदूषण मुक्त रहकर आयुर्वृद्विदायक हों तथा माता के समान कल्याणकारी हों।

जल में फैलने वाली कृमियों को दूर करने वाली अजशृंगी, गुग्गुल, पीलु, मांसी, औक्षगन्धी तथा प्रमोदिनी आदि औषधियों तथा पीपल, वट्, शिखण्डी और अर्जुन आदि वृक्षों द्वारा जलों को प्रदूषण मुक्त रखने का उल्लेख अथर्ववेद में प्राप्त होता है जो वेदों की जल संरक्षण चेतना का उत्कृष्ट उदाहरण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जलों के सम्यक् बरसने व बहने के लिए ऊँचे प्रदेशों पर वृक्षों का होना तथा निचले प्रदेशों में जल को संग्रहीत कर सुरक्षित रखना आवश्यक है,[26] अत: ऋग्वेद ऋग्वेद में कहा गया हैं कि तेजस्वी मनुष्य अपने उत्तम कर्मों के एक ओर ऊँचे प्रदेशों में गाय आदि पशुओं के लिए तृण उत्पन्न करें वहीं निचले प्रदेशों में पानी को सुरक्षित रखें।

एक स्थान पर एकत्रित जल प्रदूषित जो जाता है जबकि गतिशील जल प्रदूषण मुक्त रहता है। आपस्तम्ब स्मृति[27] आपस्तम्ब स्मृति के अनुसार निरन्तर बहने वाली जल की धारा कभी दूषित नहीं होती। ऋग्वेद[28] ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा सप्त सिन्धुओं के प्रवाह को गतिमान करने तथा रुके हुए जलों को प्रवहमान करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

प्रवाहित जलभी स्वच्छ व प्रदूषण मुक्त तभी रह सकते हैं जबकि वे सूर्य के सम्मुख रहें—

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्य: सह।
ता तो हिन्वन्त्यध्वरम्॥[29]

पाराशर स्मृति[30] पाराशर स्मृति के अनुसार वायु और सूर्य की किरणों से जल शुद्ध होता है। आपस्तम्ब स्मृति[31] आपस्तम्ब स्मृति में लिखा हैं कि जो जल सब प्रकार की शुद्धि करता है उसकी स्वयं की शुद्धि सूर्य की किरणों के उस पर पड़ने से, वायु के स्पर्श से और गाय के मूत्र एवं गोमय (गोबर) के गिरने से होती है। वेदों के अनुसार गायें जल को प्रदूषण मुक्त बनाने में विशेष उपयोगी हैं, अत: उस जल को विशेष पसन्द किया गया है जिस जल का पान गायें करती थीं। साथ ही हवि द्वारा भी जल को प्रदूषण मुक्त रखने का प्रयास किया जाता था—

अपो देवीरूप ह्वये यत्र गाव: पिबन्ति न:।
सिन्धुभ्य: कर्त्व हवि:॥[32]

स्मृतियों में जल को प्रदूषित न किया जाये-इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति[33] आचाराध्याय याज्ञावल्क्य स्मृति में कहा गया है कि थूक, रक्त, मल, मूत्र और रेतस् आदि को कभी जल में नहीं डालना चाहिए।

वेदों ने जलीय स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान दिया है और स्वच्छ जलों की महत्ता को प्रतिपादित किया है। युजर्वेद[34] के अनुसार जल पीने पर शीघ्र पच जाते हैं और पेट में जाकर अनुकूलता से सुख देते हैं। यक्ष्मा रहित, अन्य बीमारियों से रहित, निष्पाप, द्योतमान, अमृतस्वरूप तथा सत्य के वर्धक जल सुस्वादु होते हैं। अथर्ववेद[35] ने भी स्पष्ट कहा है कि जलों का मधुर रस से सम्पन्न कभी भी क्षीण न होने वाला रस चक्षु आदि प्राण के साथ और बल के साथ मनुष्य को प्राप्त हो तभी वह देख और सुन सकेगा।

वस्तुत: शुद्ध जल पृथिवी के सारे पर्यावरण को पवित्र कर देते हैं जिससे पृथिवी पर ही स्वर्ग बन जाता है-शुद्धा: सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता न: स्वर्गमभि लोकं नयन्त।[36]

अत: हमारा दायित्व है कि हम पृथ्वी पर स्वर्ग के अवतरण के लिए जलों को संरक्षण देने का संकल्प लें। इसी में मानव जाति का हित और विकास निहित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ :

1. ऋग्वेद 10.129.2
2. अथर्ववेद-4.2.6
3. वही 1.32.1
4. वही 10.8.40
5. ऐतरेय ब्राह्मण 2.16
6. अथर्ववेद 19.1-4
7. तैतिरीय संहिता-5.3.1.3
8. अथर्ववेद 1.33.1
9. वही 14.1.04
10. वही 10.5.24
11. वही 6.51.2, ऋग्वेद 10.17.10
12. अथर्ववेद 1.4.4, 3.7.5, ऋग्वेद 1.23.19
13. अथर्ववेद 6.24.2
14. वही, 1.5.2
15. वही, 1.6.3
16. वही 1.4.4
17. तैतिरीय संहिता-5.6.2.2
18. यजुर्वेद 11.50
19. शतपथ ब्राह्मण 10.5.4.15
20. अथर्ववेद 12.3.4, 3.13.7
21. वही, 1.5.2
22. ऋग्वेद 1.65.5 तथा 1.67.5
23. वही 1.23.24
24. अथर्ववेद 8.4.2
25. वही 10.40.3
26. ऋग्वेद 1.161.11
27. आपस्तम्ब स्मृति 2.3
28. ऋग्वेद 1.32.11.12., 57.6, 41.1, 80.5,5 आदि
29. ऋग्वेद, 1.23.17, अथर्ववेद 1.4.2।
30. पाराशर स्मृति, 178
31. आपस्तम्ब स्मृति 2.7
32. ऋग्वेद, 1.23.18, अथर्ववेद 1.5.3
33. याज्ञवल्क्य स्मृति, 137
34. यजुर्वेद 4.12
35. अथर्ववेद 3.13.5
36. वही 12.3.26

व्याख्याता, संस्कृत
राजकीय डूंगर महाविद्यालय
बीकानेर (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान का स्वरूप एवं महत्त्व तत्त्वार्थ सूत्र में

—डॉ. विनोद कुमार पाण्डेय

ध्यान का सामान्य स्वरूप—

ध्यैं चिन्तायाम् धातु के ल्युट् प्रत्यय का विधान करने पर ध्यान शब्द बनता है जिसका अर्थ है— मनन, विमर्श, विचार, चिन्तन, साधना इत्यादि। ध्यान में किसी एक पदार्थ पर मन एकाग्र करके स्थिर किया जाता है। इस तरह किसी एक ही वस्तु पर मन एकाग्र और स्थिर करने पर नवीन ज्ञान उत्पन्न होता है और नवीन अनुभव प्राप्त होता है। वस्तुतः यह अनुभव की, ज्ञान की और प्रत्यय की एकाग्रता अथवा एकत्र प्रवाह ही ध्यान कहा जाता है। जिस प्रकार किसी बर्तन से तेल उंडेले जाने पर तेल की अखण्ड धारा नीचे गिरती है, उसी प्रकार ध्यान में भी ध्येय वस्तु पर ध्यान की अखण्ड धारा छोड़नी पड़ती है। जैसे हम किसी वस्तु की ओर आँखों से निरन्तर देखते रहते हैं, वैसे ही ध्यान के समय मन को किसी वस्तु की ओर निरन्तर देखना होता है, इससे उस वस्तु के सम्बन्ध में नवीन अनुभव और ज्ञान प्राप्त होता है।

ध्यान में जब मन की शक्ति शरीर के किसी एक स्थान में केन्द्रित होकर कार्यक्षम हो जाती है तब शरीर में प्राणों का प्रवाह एक विशेष स्थान पर एकत्रित हो जाता है। इससे चक्र जागृत होते हैं, फलतः कुण्डलिनी जागृत होती है। इसी तरह ध्यान यदि किसी बाह्य वस्तु पर लगाया जाता है तो उसका परिणाम दूसरे प्रकार का होता है। जिस वस्तु पर ध्यान लगाया जाता है उसके विषय में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर ज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ वस्तु का अर्थ भूलोक का कोई निर्जीव पदार्थ ही अपेक्षित नहीं है, प्रत्युत् इस शब्द का व्यापक अर्थ है।

मनुष्य जब किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करता है तब उसकी भावनाओं से उसका वासना शरीर और विचारों से उसका मनःशरीर आन्दोलित होने लगता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और यह आन्दोलन सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। इसी तरह ध्यान की अवस्था में ध्यानी के शरीर में से कुछ आकृतियां बाहर निकलकर विशिष्ट स्थानों पर जमा होती हैं और इन क्रियाओं का परिणाम भी विशिष्ट हुआ करता है। इस तथ्य को साधारणतया इस प्रकार समझा जा सकता है — जब हम किसी रबर की गेंद को दीवार पर फेंकते हैं तो उसकी प्रतिक्रिया होकर वह गेंद पुनः लौट आती है, ठीक उसी प्रकार ध्यान की अवस्था में मनुष्य की भावनाएँ, वासनाएँ जो मन की क्रियाएँ हैं, विभिन्न लोकों (भूलोक, स्वर्गलोक) में जाती हैं और एक विशेष प्रतिक्रिया के साथ पुनः वापस आती हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने मन को भक्ति से परिपूर्ण कर ध्यान करता है तब भक्ति की लहरें अतिशीघ्रता से विशेष स्थान पर चली जाती हैं और वहाँ से वे लहरें अत्यधिक सामर्थ्यवान होकर उसके पास लौट आती हैं, इससे उसे बहुत सहायता मिलती है। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने इसी भाव की अभिव्यक्ति निम्न सूत्र में की है —

स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः।[1]

इस विवेचन से जो तथ्य सार रूप में उपस्थित होता है वह यह है कि ध्यान शुद्ध, सात्विक और एकाग्रचित्त में अनुभव, ज्ञान और प्रत्यय की एकतानता अथवा तैल धारावत प्रवाह है। यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि ध्यानोद्भूत ज्ञान पारमार्थिक ज्ञान है जो कि ध्यानी को मोक्ष के द्वार पर ला खड़ा करता है। तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक ज्ञान के अलोक में ध्यानी मोक्ष अथवा कैवल्य का साक्षात्कार करता है। यहाँ यदि यह कहा जाये कि ध्यान का प्रयोजन मोक्ष की उपलब्धि है तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। योगसूत्रकार ने भी विभिन्न प्रकार के ध्यान से विभिन्न प्रकार की सिद्धियों का उल्लेख करने के उपरान्त इन्हें मोक्ष प्राप्ति में विघ्न रूप माना है। इसका अभिप्राय यह है कि ध्यान सिद्धियाँ प्राप्ति के लिए न होकर मोक्ष प्राप्ति के लिए है।

तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान का स्वरूप एवं महत्त्व —

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने सूत्ररूप में ध्यान का स्वरूप प्रस्तुत किया है — "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचित्त निरोधो ध्यानम्।"[2] अर्थात् उत्तम संहनन (शारीरिक संघटन) वाले साधक का चित्त या अन्तःकरण का किसी एक ही विषय में स्थापना ही ध्यान है। प्रस्तुत सूत्र में ध्यान के स्वरूप के साथ उसके अधिकारों पर प्रकाश डाला गया है।

ध्यान का स्वरूप —

सामान्यतः चित्त बहुविषयगामी है, अतः ध्यान में विशेष प्रयत्नपूर्वक चित्त अथवा मन की बहुविषयगामिनी प्रवृत्ति को नियंत्रित करके किसी एक ही विषय पर स्थित किया जाता है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि मन की बहु विषयगामिनी ज्ञानधारा को किसी एक ही इष्ट विषय पर स्थिर रखना अर्थात् ज्ञानधारा को अनेक विषयगामिनी न बनने देकर एक विषयगामिनी बना देना ही ध्यान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान के अधिकारी—

छः प्रकार के संहननों (शारीरिक संघटनों) में वज्रऋषभनाराच, अर्धवज्रऋषभनाराच और नाराच—तीन प्रकार के संहनन वाले को उत्तम माना जाता है और संहनन वाला ही ध्यान का अधिकारी होता है। यहाँ उत्तम संहनन वाला ही ध्यान का अधिकारी होगा, ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि ध्यान के लिए ध्यानी में जितनी शारीरिक और मानसिक बल की आवश्यकता है वह उत्तम संहनन वाले में ही संभव है। यद्यपि ध्यान में मन की शुद्धता, स्वस्थता और एकाग्रता आवश्यक है, परन्तु गौण रूप से हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि मन शरीर से सम्बद्ध है, इसलिए शरीर का स्वस्थ होना भी आवश्यक है। उत्तम संहनन वाले के अतिरिक्त दूसरा कोई ध्यान का अधिकारी नहीं हो सकता, क्योंकि अनुत्तम संहनन वाले में शारीरिक बल के साथ मानसिक बल भी कम होता है। चूँकि मानसिक बल कम होने से चित्त स्थिर नहीं हो पायेगा, फलतः ध्यान लगना सम्भव नहीं है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तम संहनन वाला ही ध्यान का अधिकारी है।

उपर्युक्त ध्यान असर्वज्ञ में ही सम्भव है। इसलिए ऐसा ध्यान बारहवें गुणस्थान तक होता है। यद्यपि सर्वज्ञत्व प्राप्त होने के बाद अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में भी ध्यान स्वीकार्य तो है परन्तु उसका स्वरूप भिन्न है। पं. सुखलाल सिंघवी का मत है कि सर्वज्ञ दशा में मन व मन और काय के व्यापार सम्बन्धी सुदृढ़ प्रयत्न को ही ध्यान के रूप में स्वीकार किया जाता है।

ध्यान का काल परिणाम—

ध्यान क्षण स्थायी है अथवा इसका विस्तार दूसरे, तीसरे क्षण में भी हो सकता है। इस सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों ने सूक्ष्म विवेचन किया है। ध्यान के काल परिमाण के विषय में उमास्वाति की विचारणा है-"आमुहूर्त्तात् ध्यानम्"[3] अर्थात् ध्यान अन्तर्मुहूर्त मात्र परिणाम वाला है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए पं. सुखलाल सिंघवी कहते हैं कि कुछ लोग श्वासोच्छवास रोक रखने को ध्यान मानते हैं, तो कुछ लोग मात्रा से काल की गणना करने को ध्यान मानते हैं। जैन परम्परा में ध्यान की उक्त दोनों ही पद्धतियाँ स्वीकार्य नहीं हैं, क्योंकि सम्पूर्णतया श्वासोच्छवास की क्रिया रोक दी जाये तो शरीर ही नहीं टिकेगा। अतः शरीर को जीवित रखने के लिए मन्द या मन्दतम श्वास-संचार ध्यान में भी आवश्यक है। इसी प्रकार जब कोई मात्रा से काल की गणना करेगा तब एक साथ अनेक क्रियाएँ करने में लग जाने से उसके मन को एकाग्र के स्थान पर व्यग्र ही मानना पड़ेगा। वस्तुतः यही कारण है कि दिवस, मास या उससे अधिक काल तक ध्यान के टिकने की लोक मान्यता भी जैन परम्परा को ग्राह्य नहीं है। इसका कारण यह माना जाता है कि लम्बे समय तक ध्यान साधने से इन्द्रियों का उपघात सम्भव है। अतः ध्यान को अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक बढ़ाना कठिन है। जो लोग ऐसा कहते हैं कि मैंने एक दिवस, एक अहोरात्र अथवा उससे भी अधिक ध्यान किया, उनका अभिप्राय यह है कि उतने समय तक ध्यान का प्रवाह चलता रहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान के भेदोपभेद—

तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान के चार भेद बतलाये गये हैं-"आर्त्तरौद्रधर्मशुक्लानि"।[4]

अर्थात् आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। इनमें अन्तिम दो (धर्म और शुक्ल) ध्यान मोक्ष के लिए हैं और प्रथम दो ध्यान संसार के कारण होने से दुर्ध्यान हैं।

आर्त्तध्यान—

अनिष्ट वस्तु-संयोग, इष्ट वस्तु-वियोग, प्रतिकूल वेदना और भोग की लालसा, इन चार प्रकार की मनोवृत्ति के आधार पर आर्त्तध्यान के चार भेद हो जाते हैं—

1. **"आर्त्तमनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहरः"।**[5]

अर्थात् अप्रिय वस्तु की प्राप्ति पर उसके वियोग के लिए सतत चिन्ता करना प्रथम आर्त्तध्यान है।

2. **"वेदनापाश्च"**[6] अर्थात् दुःख आ पड़ने पर उसके निवारणार्थ चिन्ता करना दूसरा आर्त्तध्यान है।

3. **"विपरीतं मनोज्ञानाम्"**[7] अर्थात् प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत चिन्ता करना तृतीय आर्त्तध्यान है।

4. **"निदानं च"**[8] अर्थात् अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए चिन्ता करना चतुर्थ आर्त्तध्यान है।

रौद्र ध्यान—**"हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरति देशविरतयोः"।**[9]

अर्थात् हिंसा, असत्य, स्तेय और विषय संरक्षण की चिन्ता रौद्र ध्यान है। यह अविरति और देशविरति में ही सम्भव है। आर्त्तध्यान की भांति रौद्र ध्यान के भी चार भेद उसके कारण के आधार पर बन जाते हैं। ये चार ध्यान हैं—हिंसानुबन्धी, अनृतानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी।

धर्मध्यानः—"आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य"।[10]

अर्थात् आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान की विचारणा के लिए मन को एकाग्र करना धर्म ध्यान है। यहाँ आज्ञादि की विचारणा के लिए मन को एकाग्र करने के आधार पर धर्म ध्यान के भी चार भेद हो जाते हैं।

(क) आज्ञाविचय धर्मध्यान—वीतरागी, अर्हत्, सर्वज्ञ पुरुष की आज्ञा को श्रद्धापूर्वक और विचारपूर्वक स्वीकार करने हेतु मन की एकाग्रता आज्ञा-विचय धर्मध्यान है।

(ख) अपाय विचय धर्मध्यान—अपाय का अभिप्राय हिंसादि दोषों से है। अतः अपाय विचयध्यान में हिंसादि दोषों के स्वरूप और उसके परिणाम की विचारणा करते हुए उसके उपशमनार्थ मन की एकाग्रता अपाय विचय धर्मध्यान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ग) विपाक विचय धर्मध्यान—कर्म विपाक (फल) रूप परिणाम वाला है, ऐसा विश्वास ही कर्म प्रवृत्ति का हेतु है। अत: विपाकविचय धर्मध्यान में अमुक कर्म का अमुक विपाक होगा, इसकी विचारणा की जाती है।

(घ) संस्थानविचय धर्मध्यान—संस्थान का अभिप्राय लोक से है। अत: लोक स्वरूप का चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

शुक्लध्यान— ''पृथक्त्वैकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरत क्रियानिवृत्तितानि''।[11]

यहाँ पर शुक्ल ध्यान के भेदों का वर्णन हुआ है, जिसके पर्यायलोचन से शुक्ल ध्यान का स्वरूप निर्धारित होगा। अत: हम शुक्ल ध्यान के भेदों पर विचार करते हैं—

1. पृथकत्ववितर्कसविचार:—इसमें वितर्क (श्रुतज्ञान) का अवलम्बन लेकर किसी एक द्रव्य में उसके पर्यायों के पृथकत्व (भेद) का विभिन्न दृष्टि से चिन्तन करना पृथकत्ववितर्कसविचार नाम वाला शुक्लध्यान है।

2. एकत्ववितर्कनिर्विचार:—इसमें वितर्क का अवलम्बन होने पर भी एकत्व का चिन्तन प्रधान रहता है, साथ ही इसमें शब्द, अर्थ अथवा योगों का परिवर्तन नहीं होता।

3. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति:—सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा सूक्ष्म शरीर योग का आश्रय लेकर शेष योगों को प्रतिबन्धित कर देना अथवा रोक देना सूक्ष्म क्रिया-प्रतिक्रिया शुक्लध्यान है। इसमें श्वासोच्छवास के समान सूक्ष्म क्रियाएँ ही शेष रहती हैं, जिसका पतन सम्भव नहीं है।

4. सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति ध्यान:—इसमें दो महत्त्वपूर्ण बातें होती हैं। प्रथम यह कि इसमें श्वासोच्छवास रूप सूक्ष्म क्रियाओं का ही अभाव हो जाता है, जिसके कारण आत्म-प्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाता है। दूसरा तथ्य यह है कि इसमें किसी भी प्रकार के श्रुतज्ञान आलम्बन नहीं होता है। अत: इसे अनालम्बन ध्यान भी कहा जाता है।

शुक्लध्यान का अधिकारी गुणस्थान की दृष्टि से अथवा योग की दृष्टि से दो प्रकार का माना गया है। गुणस्थान की दृष्टि से शुक्लध्यान का प्रथम ध्यान ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान वाले पूर्वधर के लिए है। शेष दो ध्यान तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वाले केवली के लिए हैं। इसी तरह योग की दृष्टि से तीन योग वाला प्रथम शुक्लध्यान का और एक योग वाला द्वितीय शुक्लध्यान का तथा केवल काययोग वाला तृतीय शुक्लध्यान का अधिकारी होता है। इसके अतिरिक्त चौथे शुक्लध्यान का अधिकारी एकमात्र अयोगी होता है।

ध्यान का प्रयोजन:—तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने ध्यान के प्रयोजन अथवा महत्व को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया है—**''आर्त्तरौद्रधर्मशुक्लानि परे मोक्ष हेतु''।**[12]

अर्थात् उपरोक्त चारों ध्यान में से परे अर्थात् बाद के दो ध्यान मोक्ष के लिए हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य तुलसी का मत है कि ध्यान से जीवनचर्या, मान्यताएँ, स्वभाव, रहन-सहन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचरण अथवा व्यवहार में परिवर्तन हो तो समझना चाहिए कि ध्यान की दिशा सही है और अगर परिवर्तन नहीं हो तो ध्यान की दिशा सही नहीं है। ध्यान के बिना निर्मलता, स्वस्थता और स्थिरता की कल्पना असम्भव है।[13]

निष्कर्ष:—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्यान का द्विविध प्रयोजन है। प्रथम हमारे जीवनचर्या अथवा रहन-सहन में समुचित परिवर्तन और दूसरा मोक्ष की प्राप्ति। अत: जिस मानसिक एकाग्रता रूप क्रिया अथवा ध्यान से उक्त प्रयोजनों की सिद्धि होती है, वह ध्यान कहलाने योग्य है और अगर निर्दिष्ट प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो तो उसे केवल क्रियामात्र ही कहा जायेगा।

यद्यपि 'मोक्ष' समाधि का परिणाम है तथापि ध्यान समाधि की पूर्व की स्थिति है। तात्पर्य यह है कि समाधि ध्यानपूर्वक ही सम्भव है, ध्यान के बिना समाधि की कल्पना असम्भव है। अत: समाधि का फल ही ध्यान का फल निर्धारित होता है। वैसे ध्यान का फल है समाधि और समाधि का फल है मोक्ष अथवा कैवल्य।

सन्दर्भ—

1. योगसूत्र 2/44
2. तत्त्वार्थसूत्र 9/27
3. वही, 9/28
4. वही, 9/29
5. वही, 9/31
6. वही, 9/32
7. वही, 9/33
8. वही, 9/34
9. तत्त्वार्थसूत्र 9/36
10. वही, 9/37
11. वही, 9/49
12. वही, 9/29-30
13. नया समाज : नया दर्शन, पृ.-162

प्रवक्ता
संस्कृत विभाग
डी.ए.-वी. कॉलेज, कानपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ENGLISH SECTION

Editor - Dr Jagat Ram Bhattacharya

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Ācārāṅga-Bhāṣyam

— Ācārya Mahāprajña

Chapter-I

Comprehension and Abandonment of Weapon of Injury

Section-6

1. 118 se bemi — saṃtime tasā pāṇā, taṃ jahā — aṃḍayā poyayā jarāuyā rasayā saṃseyayā saṃmucchimā ubbhiyā ovavāiyā.

Thus I Say:

There are mobile beings such as those born

1. **Out of eggs**
2. **Out of foetus (born complete)**
3. **Out of foetus with amnion (or the chorion, an enveloping membrane)**
4. **Out of fluids**
5. **Out of sweat**
6. **By coagulation**
7. **By sprouting from the earth**
8. **Spontaneously**

Bhāṣyaṃ Sūtra 118

In the present sūtra, the forms of mobile beings are brought together. The mobile creatures are of three types, namely —

(a) born of coagulation (invertebrate)
(b) born of womb (vertebrate) and
(c) born spontaneously (and accomplished).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Coagulation means birth without being foetus in the womb. In such birth, the body is made of food accepted from nature. Among those born of coagulation are those who are born out of fluid, born out of sweat, and born by sprouting from the earth.

Creatures born of womb: Creatures born in placenta (viviparous). They include the creatures born out of egg (oviparous), born out of foetus, and born out of foetus with amnion.

Spontaneous: Those born with a protean body. The beings that have protean body are called spontaneously born. They are the denizens of heaven and hell.

1.119 esa saṃsāretti pavuccati.

1. 120 maṃdassa aviyāṇao.

(119,120) The world of mobile beings is known as the world of motion even to the dullard and the ignorant person.

Bhāṣyaṃ Sūtras 119,120

It is only the mobile beings that can move and therefore the world comprising them is called the world of motion, *saṃsāra.*

The dullard and the ignorant are well acquainted with this *saṃsāra* as they have no doubt about it. But they are quite ignorant of the subtle world of one-sensed beings as a part of *saṃsāra.* They do not know about the pleasure and pain in the world of immobile beings which is too subtle to be believed by them.

1.121 ṇijjhāittā paḍilehittā patteyaṃ pariṇivvāṇaṃ.

1.22 savvesiṃ pāṇāṇaṃ savvesiṃ bhūyāṇaṃ savvesiṃ jīvāṇaṃ savvesiṃ sattāṇam assāyaṃ apariṇivvāṇaṃ mahabbhayaṃ dukkhaṃ ti bemi.

(121,122) Deeply reflecting and observing that happiness is dear to all, (and so) to all mobile beings, immobile beings, souls and living substances, unhappiness is unpleasant, dreadful and painful. Thus I say.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Bhāṣyaṃ Sūtras 121,122

Happiness is bliss. The words pleasure, delight, fearlessness and happiness are mentioned as synonyms in the Cūrṇi (p.36). The happiness is dear to each creature. Deeply reflecting (i.e., properly pondering) and deeply observing (i.e., rightly considering) this, one should desist from violence. On the other hand deeply reflecting (i.e., properly pondering) and deeply observing (i.e., rightly considering) that unhappiness is unpleasant, one should desist from violence.

Unpleasant, unhappiness, dreadful and painful are given as synonyms in the Sūtra itself.

Mobiles: The word *prāṇa* refers to the aspect of inhaling and exhaling which are evident in mobile beings.

Immobiles : The word *bhūta* refers to existence through past, present and future, their respiration being not evident.

Souls: Soulhood and life-span characterize the soul *(jīva).*

Living substances: The word *sattvaḥ* stands for existence. Their existence is characterized by their good and bad karma.[1]

1. 123 tasaṃti pāṇā padisodisāsu ya.

The mobile beings, being frightened, wander in all directions, cardinal and intermediate, overwhelmed by distress.

Bhāṣyaṃ Sūtra 123

The beings that have the consciousness of movement to and fro are mobile beings. Moreover, they are in distress being afraid, worked, shrivelled and frightened. They flee from one place to another. Hence they are called mobile.[2]

The purport of the sūtra is that the mobile beings flee in all directions, cardinal and intermediate, out of fear. In the Cūrṇi the example of silk-worm is given. The silk-worm makes sheath out of fear to protect itself.

1. 124 tattha-tattha puḍho pāsa, āurā paritāveṃti.

Look, passionate people, at different places, are torturing the mobile creatures.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. 125 saṃti pāṇā puḍho siyā.

The mobile beings inhabit individual bodies.

1. 126 lajjamāṇa puḍho pāsa.

Look at various self-restrained people ashamed of their violent activities.

1. 127 aṇagārā motti ege pavayamāṇā

Some people style themselves as homeless mendicants.

1.128 jamiṇaṃ virūvarūvehiṃ satthehiṃ tasakāya-samāraṃbheṇaṃ tasakāyasatthaṃ samāraṃbhamāṇe aṇṇe vaṇegarūve pāṇe vihiṃsati.

They indulge in violent actions to the mobile beings with various weapons which involve destruction of various other classes beings.

1. 129 tattha khalu bhagavayā pariṇṇā paveiyā

On this subject the Lord has propounded the principle of comprehension and abandonment.

1.130 imassa ceva jīviyassa, parivaṃdaṇa-māṇaṇa-pūyāṇāe, dukkhapaḍighāyaheum.

Longing for survival; praise, reverence and adoration; life and death, emancipation; and elimination of physical and mental suffering.

1.131 se sayameva tasakāya-satthaṃ samāraṃbhati, aṇṇehiṃ vā tasakāyasatthaṃ samāraṃbhāvei, aṇṇe vā tasakāya-satthaṃ samāraṃbhamāṇe samaṇujāṇai.

He himself indulges in killing the mobile beings or instigates others to do so or approves of such killings by others.

1.132 taṃ se ahiyāe, taṃ se abohīe.

Such violence is for his harm, is for his non-enlightenment.

1. 133 se taṃ saṃbujjhamāṇe āyāṇiyaṃ samuṭṭhāe.

He (the ascetic) comprehends the result of violence and applies himself to the practice of self-restraint.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. 134 *soccā bhagavao aṇagārāṇaṃ vā aṃtie ihamegesiṃ ṇāyaṃ bhavai—esa khalu gaṃthe, esa khalu mohe, esa khalu māre, esa khalu ṇarae.*

Hearing from the Jina or other ascetics, some people come know: such violence is indeed a knot, is delusion, is death, is hell.

1.135 *iccatthaṃ gaḍhie loe.*

Nevertheless, the people entrapped in pursuit of pleasure (indulge in violence to mobile beings).

1.136 *jamiṇaṃ virūvarūvehiṃ satthehiṃ tasakāya-samāraṃbheṇaṃ tasakāya-satthaṃ samāraṃbhamāṇe aṇṇe vaṇegarūve pāṇe vihiṃsati.*

They indulge in violent actions to mobile beings with various weapons, which involve destruction of various other classes of beings.

1. 13 7 *se bemi—appege aṃdhamabbhe, appege aṃdhamacche.*

Thus I say: somebody pierces and cuts the mobile beings, some among whom are deficient in other limbs (but have the feeling of intense pain like that of the human beings born blind, deaf, dumb, lame).

1. 138 *appege pāyamabbhe, appege pāyamacche.*

Some people pierce and cut foot, ankle etc. (See sūtra 29 for all the thirty-two limbs).

1.139 *appege saṃpamārae, appege uddavae.*

Sometimes a person is beaten to a state of unconsciousness and sometimes tortured to death.

Bhāṣyam Sūtras 129-139

See Sūtras 20-30.

1.140 *se bemi—appege accāe vahaṃti, appege ajiṇāe vahaṃti, appege maṃsāe vahaṃti, appege soṇiyāe vahaṃti, appege hiyayāe vahaṃti, appege pittāe vahaṃti, appege vasāe vahaṃti, appege*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

picchāe vahaṃti, appege pucchāe vahaṃti, appege bālāe vahaṃti, appege siṃgāe vahaṃti, appege nahāe vahaṃti, appege dāḍhāe vahaṃti, appege visāṇāe vahaṃti, appege daṃtāe vahaṃti, appege ṇhāruṇīe vahaṃti, appege aṭṭhīe vahaṃti, appege aṭṭhimiṃjāe vahaṃti, appege aṭṭhāe vahaṃtī, appege aṇaṭṭhāe vahaṃti, appege hiṃsiṃsu meti vā vahaṃti, appege hiṃsaṃti metti vā vahaṃti, appege hiṃsissaṃti metti vā vahaṃti.

Thus I say:

Some people kill (mobile beings) for obtaining their body, while others do so for their hide, flesh, blood, heart, bile, fat, feathers, tail, hair, horn, tusk, tooth, jaw, nail, sinew, bone and marrow. Some people kill with a purpose and some without any. Some people kill for vendetta, reflecting that they committed violence to him (or his kith and kin) in the past. Some people kill for they are doing at present or are likely to do violence to him (or his kith and kin) in future.

Bhāṣyaṃ Sūtra 140

In the present Sūtra, the motives behind the killing of mobile beings are given. These are indicative of the customs prevalent in society in those days.

Body: In the Cūrṇi and Vṛtti there is an example of how a person who has taken poison is inserted in the corpse of an elephant killed for the purpose to cure him of his poison. For the purpose of achieving the desired result, people practised occult science and chanted mantras on the sacrificed body of a person possessed of auspicious marks of excellence and with unmutilated body. Some people sacrificed goats, etc., as offering to the deity.

Hide: People kill lion, tiger etc. for their hide. Some people kill various animals in order to get their flesh, blood, heart, bile, fat, feather, tail, hair, horn, tusk, tooth, jaw, nail, sinew, bone-marrow etc.

It is not that people indulge in injury to life only with specific motives. But sometimes they do so without any motive.

People indulge in acts of violence out of revenge, retribution or suspicion. This is indicated in the last part of the Sūtra: as he had killed a relation of mine.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

I shall kill him ; he is killing, therefore I should kill him; if he survives, he would kill me, therefore I should kill him.

1.141 ettha satthaṃ samāraṃbhamāṇassa iccete āraṃbhā apariṇṇāyā bhavaṃti.

The person thus indulging in acts of violence does neither comprehend nor abandon them.

1.142 ettha satthaṃ asamāraṃbhamāṇassa iccete āraṃbhā pariṇṇāyā bhavaṃti.

The person not indulging in acts of violence is capable of comprehending and abandoning them.

1.143 taṃ parīṇṇāya mehāvī ṇeva sayaṃ tasakāya-satthaṃ samāraṃbhejjā, ṇevaṇṇehiṃ tasakāya-satthaṃ samāra-ṃbhāvejjā, ṇevaṇṇe tasakāyasatthaṃ samāraṃbhate samaṇujāṇejjā.

Comprehending this, an intelligent ascetic should not indulge in violence to mobile beings, nor should he instigate others to do so, nor should he approve of such violence committed by others.

1.144 jassete tassakāya-sattha-samāraṃbhā pariṇṇāyā bhavaṃti, se hu muṇī pariṇṇāya-kamme.—tti bemi.

The ascetic who comprehends and abandons these acts of violence to mobile beings is indeed an ascetic who has fully comprehended and abandoned all acts of violence.

Bhāsyaṃ Sūtras 141-144

See Sūtras 31-34.

Reference :

1. Aṅgasuttāṇi II, Bhagavaī, 2/15: goyamā! jamhā āṇamai vā, pāṇamai vā, ussasai vā, nisasai vā, tamhā pāṇe tti vattavvaṃ siyā.
jamhā bhūte bhavati bhavissati ya tamhā bhūe tti vattavaṃ siyā.
jamha jīve jivati, jīvattaṃ āuyaṃ ca kammaṃ uvajīvati tamhā jīve tti vattavvaṃ siyā.
jamhā satte subhāsubhehiṃ kammehiṃ tamhā satti tti vattavvaṃ siyā.

2. Dasaveyāliyaṃ, IV/Sūtra 9 : jesiṃ kesiṃci pāṇāṇaṃ abhikkaṃtaṃ paḍikkaṃtaṃ saṃkuciyaṃ pasāriyaṃ ruyaṃ bhaṃtaṃ tasiyaṃ palāiyaṃ āgaigaiviṇṇāyā.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Chapter-I

Comprehension and Abandonment of Weapon of Injury

Section-7

1. 145 pahū ejjassa dugaṃchaṇāe.

A non-violent person is capable of guarding himself against committing violence to air-bodied beings.

Bhāṣyaṃ Sūtra 145

Air pervades wherever living beings are in action. The question, therefore, naturally arises whether it is possible to abstain from injury to air-bodied beings. In reply, the Sūtra says that it is possible. One can avoid doing injury to them.

Air: This is called *ejaḥ* in Sanskrit because it flows *(ejati).*

Guarding against committing violence: It means restraint, desisting from action; avoidance; turning back; escape. These are all synonyms.

1. 146 āyaṃkadaṃsī ahiyaṃ tti naccā.

Only the person who finds violence as fearful and harmful can desist from it.

Bhāṣyaṃ Sūtra 146

This is a supporting sūtra. The perception of fear and knowledge of harm are the supports to desisting from violence.

Fear : It produces physical and mental pain. One who perceives fear in acts of violence does easily refrain from the latter.

The apparent good in the act of violence ultimately turns evil. The

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

harmful behaviour is productive of harmful result. Such comprehension easily leads one to abstain from the acts of violence.

1. 147 je ajjhatthaṃ jāṇai, se bahiya jāṇai. je bahiyā jāṇai, se ajjhatthaṃ jāṇai.

One who knows the internal knows the external and one who knows the external knows the internal.[1]

Bhāṣyaṃ Sūtra 147

This is also supporting sūtra. The word internal has different connotations in different contexts.

1. The internal is what is concerned with the self.
2. The internal is what is beyond the mind.
3. The internal is the consciousness which is a common factor running through body, speech and mind of all living beings, mobile or immobile.
4. The internal is the sensation of pleasure and pain.
5. The internal is also the cosciousness of the Jina.

Here the world internal stands for the sensation of pleasure and pain. One who knows the internal knows the external i.e., all living beigns other than himself. The idea is that as there is the feeling of pleasure and painwith respect to the disirable and the undesirable in oneself, so there is similar **feeling in the living beings of the external world. The Sūtra also gives the converse: one who knows the external knows the internal.**

Bhāṣyaṃ Sūtra 148

Now look at the comparison explained in the preceding sūtra. As my suffering is not desirable to me, so the sufferings of others are not desirable to them. The understanding of this comparision with the self is a support to abstinence from violence.[2]

1.149. iha samitigayā daviyā, ṇāvakaṃkhaṃti vījiuṃ.[1]

The competents who have achieved tranquillity do not take to fanning

Bhāṣyam Sūtra 149

Here the Sūtra explains the act of injury to the air-bodied beings and abstinence from it by pointing out the example of fanning. The monks

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

initiated in the discipline of the *Jina* do not take to fanning. The reason is twofold: they have attained tranquillity and they have also the competence to practise self-restraint.

Tranquillity : The calming down of the passions.

Competent to practise self-restriant . Free from lust and hatred or free from attachment to body. It also means monks with their heart melted by compassion. Such persons are tranquil even in hot summer. Therefore they do not need to get tranquillity by fanning which involves injury to air- bodied beings.

1.150 lajjamāṇā puḍho pāsa.

1.151 anagārā motti ege pavayamāṇā.

Look at various self-restrained people ashamed of their violent activities.

Some people style themselves as homeless mendicants.

Bhāṣyaṃ Sūtras 150, 151

See Sūtra 17, 18

1.152 jaminaṃ virūvarūvehiṃ satthehiṃ vāukamma-samāraṃbheṇaṃ vāusatthaṃ samāraṃbhamāṇe aṇṇe vaṇegarūve pāṇe vihiṃsati.

They indulge in violent actions to air-bodied beings with various weapons, which involve destruction of various other classes of beings.

Bhāṣyam Sūtra 152

In the *Niryukti*, the following are mentioned as the weapons that cause injury to the air-bodied beings:

1. The generator of air current, viz. Fan, palm fan, winnowing basket, chowrie, leaf, corner of a garment.
2. Stationing oneself: It means standing against the air current, when one is perspiring.
3. Fragrance of sandalwood and the fragrant root of the plant Andropogon muricatus, etc.
4. Fire : Its flame and heat.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. Homogeneous weapon: The opposites viz. The cold and the hot air are the weapons mutually.[4]

It is said in the *Sthānāṅga* that all the five classes of immobile beings may be alive or dead.[5] There five kinds of non-sentient air-bodied are also mentioned:

Trampled : Air rising up when trampled under foot and the like.

Blown out : Air blown out by bellows, etc.

Squeezed : The air rising up while squeezing wet cloth.

Bodily air : Belching, exhaling, etc.

Coagulation : Flow of air caused by fanning etc.[6]

In the *Niśītha bhāṣya*, and the *Cūrṇi* the air-bodies are propounded as weapons to one another.[7] In the *Bṛhatkalpabhāṣya*, the live or dead nature of air-bodies is said to be by virtue of their beings at specific place and time.[8] There is thus numerous descriptions about the weapons and live or dead air-bodies, which deserve patient and prolonged studies.

1.153 tattha khalu bhagavayā pariṇṇā paveiyā.

On this subject the Lord has propounded the principle of comprehension and abandonment.

1.154 imassa ceva jīviyassa, parivaṃdaṇa-māṇaṇa-pūyaṇāe, jāī-maraṇa-moyaṇāe, dukkhapaḍighāyaheuṃ.

Longing for survival; praise, reverence and adoration; birth and death, emancipation; and elimination physical and mental suffering.

1.155 se sayameva vāu-satthaṃ samāraṃbhati, aṇṇehiṃ vā vāu-satthaṃ samāraṃbhāveti, aṇṇe vā vāu-satthaṃ samāraṃbhaṃte samaṇujjāṇai.

He himself indulges in killing the air-bodied beings or instigates others to do so or he approves of such killings by others.

1.156 taṃ se ahiyāe, taṃ se abohīe.

Such violence is for his harm, is for his non-enlightenment.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1.157 se taṃ saṃbujjhamāṇe, āyāṇiyaṃ samuṭṭhāe.

He (the ascetic) comprehends the result of violence and applies himself to the practice of self-restraint.

1.158 soccā bhagavao aṇagārāṇaṃ vā aṃtie ihamegesiṃ nāyaṃ bhavai — esa khalu gaṃthe, esa khalu mohe, esa khalu māre, esa khalu ṇirae.

Hearing from the Jina or other ascetics, some people come to know: such violence is indeed a knot, it is delusion, is death, is hell.

1.159 icchatthaṃ gaḍhie loe.

Nevertheless, the people entrapped in the pursuit of pleasure (indulge in violence to air-bodied beings).

1.160 jamiṇaṃ virūvarūvehiṃ satthehiṃ vāukamma-samāraṃbheṇaṃ vāu-satthaṃ samāraṃbhamāṇe aṇṇe vaṇegarūve pāṇe vihiṃsati.

They indulge in violent actions to air-bodied beings with various weapons, which involve destruction of various other classes of beings.

1.161 se bemi— appege aṃdhamabbhe, appege aṃdhamacche.

Thus I say: somebody pierces and cuts the blind (air-bodied beings which have the feeling of intense pain like that of the human beings born blind, deaf, dumb, lame and deficient in other limbs).

1.162 appeage pāyamabbhe, appege pāyamacche.

Some people pierce and cut foot, ankle etc. (See Sūtra 29 for all the thirty-two limbs of the body).

1.163 appege saṃpamārae, appege uddavae.

Sometimes a person is beaten to a state of unconsciousness and sometimes tourtured to death.

Bhāṣyaṃ Sūtras 153-163

See Sūtra 20-30

1.164 se bemi—saṃti saṃpāimā pāṇā, āhacca saṃpayaṃti ya. pharisaṃ ca khalu puṭṭhā, ege saṃghāyamāvajjaṃti.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Je tattha saṃghāyamāvajjaṃti, te tattha pariyāvajjaṃti, se tattha pariyāvajjaṃti, te tattha uddāyaṃti.

Thus I say: There are insects which fly into air impetuously, some of them are shirivelled by air-touch, faint and eventually die.

Bhāṣyaṃ Sūtras 164

See Sūtras 85.

1.165 etthaṃ satthaṃ samāraṃbhamāṇassa iccete āraṃbhā apariṇṇāyā bhavaṃti.

The person thus indulging in acts of violence does neither comprehend, not abandon them.

1.166 ettha satthaṃ asamāraṃbhamāṇassa iccete āraṃbhā pariṇṇāyā bhavaṃti.

The person not indulging in acts of violence is capable of comprehending and abandoning them.

1.167 taṃ pariṇṇāya mehāvī ṇeva sayaṃ vāu-satthaṃ samāraṃbhejjā ṇevaṇṇehiṃ vāu-satthaṃ samāraṃbhāvejjā, ṇevaṇṇe vāu-satthaṃ samāraṃbhaṃte samaṇujānejjā.

Comprehending this, an intelligent ascetic should not indulge in violence to the air-bodied beings, nor should he instigate others to do so, nor should he approve of such violence committed by others.

1.168 jassete vāu-sattha-samāraṃbhā parinnāyā, bhavaṃti, se hu muṇī pariṇṇāya-kamme.—tti bemi.

The ascetic who comprehends and abandons these acts of violence to the air-bodied beings is indeed an ascetic who has fully comprehended and abandoned all acts of violence.

Bhāṣyam Sūtras 165-168

See Sūtras 31-34.

1.169 etthaṃ pi jāṇe uvādīyamāṇā.

Here also one should know the monks— who are seized (by the sensual objects).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Bhāṣyaṃ Sūtra 169

To the query: who are they that commit injury to air-bodied beings, the answer is: you should know that the persons who are seized by the sensual objects, that is, attacked[9] by them, indulge in injury to the air-bodied beings. Such individuals are described in the Sūtras (170-173) that follow.

1.170 je āyāre na ramaṃti.

— who do not find interest in the discipline.

Bhāṣyaṃ Sūtra 170

'Discipline' means comprehension and giving up violent activities. Those who do not find joy in the ethical code have their minds overwhelmed by desire for pleasure and they indulge in injury to the air-bodied beings.

1.171 āraṃbhamāṇā viṇayyaṃ vayaṃti.

— who preach the discipline but indulge in violent activities.

Bhāṣyam Sūtra 171

'Discipline' means good condut or self-control. There are some who preach the ethical code to others even though they themselves indulge in injury to air-bodied beings. This is matter of surprise. How can the preaching of discipline by them be meaningful, who themselves indulge in injury to air-bodied beings? This is a case of cognitive dissonance.

1.172 chaṃdovaṇīyā ajjhovavaṇṇā.

— Who are carried by their wishes and are addicted to sensual objects.

Bhāṣyam Sūtra 172

Wish : it means indulgence in general.

Addiction : it means deep lust for the sensual objects.

The people who are carried by wishes and are addicted to sensual objects commit violence to air-bodied beings.

1.173 āraṃbhasattā pakareṃti saṃgaṃ.

— who produce fresh bondage beings addicted to violent activities.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Bhāṣyam Sūtra 173

Being attached to violence, they produce addiction. Addiction is lust and hatred or karmic bondage.

The opposites of what is said in the Sūtras 169 to 173 are formulated in the Cūrṇi (pp. 41,42) in the following way: The people who are not seized by the sensual objects, who find interest in the discipline, who preach the discipline not indulging in injury to air-bodied beings, who are not carried by good intentions and practise them, who being not involved in indulgences do not produce bondage.[10]

1.174 se vasumaṃ savva-samannāgaya-paṇṇāeṇaṃ akaraṇijjam pāvaṃ kammaṃ.

A self-disciplined monk, endowed with compehensible wisdom, cannot indulge in any harmful activity.

Bhāṣyam Sūtra 174

Wisdom : insight.

Comprehensive : means comprising all objects or conversant with the entire truth.

Self-disciplined : means a self-restrained.

For such aspirant, harmful activities are impossible of being done owing to his all-comprehensive insight. Only the person in whom all-comprehensive insight or truthfull insight has dawned considers evil activities as unworty of being done.[11]

1.175 taṃ no aṇṇesiṃ.

He should not seek for such (harmful activities).

Bhāṣyam Sūtra 175

In the preceding Sūtra, it has been laid down that one should not do harmful activities. In this Sūtra, it is said that one should not seek for harmful activity. Seeking harmful activity is produced due to the fruition of past karma. A person striving for the suppression of harmful activities should exert himself for purifying his attitude. The purified attitude will make the karma that was the cause of seeking harmful activity unproductive of its effect.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1.176. taṃ pariṇṇāya mehāvī ṇeva sayaṃ chajjīva-ṇikāya-satthaṃ samāraṃbhejjā, ṇevaṇṇehiṃ chajjīva-ṇikāya-satthaṃ samāraṃbhāvejjā, ṇevaṇṇe chajjīva-ṇikāya-satthaṃ samāraṃbhaṃte samaṇujāṇejjā.

Comprehending this, an intelligent ascetic should not indulge in violence to the six classes of living beings, nor should he instigate other to to so, nor should he approve of such violence committed by others.

1.176 jassete chajjīva-ṇikāya-sattha-samāraṃbhā pariṇṇāyā bhavaṃti, se hu muṇī pariṇṇāya-kame— tti bemi.

The ascetic who comprehends and abandons these acts of violence to six classes of living beings in indeed an ascetic who has fully comprehended and abandoned all acts of violence. Thus I say.

Bhāṣyam Sūtra 176-177

See Sūtra 33, 34

Reference :

1. This aphorism can be interpreted in three different ways:

   The intrinsic aspect of a substance is subtle, while the external one is gross. It is easy to comprehend the latter, but difficult to comprehend the former. One who can comprehend the former can distinctly comprehend the latter also. One who has comprehended the latter is able to know the former only through the medium of the gross. The soul is an inner reality. Its conscious form cannot be disctincly comprehended. But its functions, manifested through the body, are gross and external. It follows from this that a body, devoid of consciousness cannot perform functions of consciousness. The functions of consciousness are the functions performed by the conscient reality (soul).

2. A person directly experiences pain and pleasure and as such they are immediate and self-perceptible. On the basis of the self-experience we can understand the pains and pleasures of others. Therefore, the feeling of pains and pleasures of others is an indirect one. The way in which we are affected by any external cause is the same as the way in which we ourselves are affected.

3. Knowledge like the sun is self-luminary. Just as the sun is self-luminary and illuminates other objects, knowledge is self-luminary and enlightens other substances. The function of knowledge is to know the knowable. Knowledge is self-luminary and therefore reveals the spiritual substances—it reveals the self. It enlightens others and therefore it reveals the external world i.e. it reveals the whole gamut of knowable objects, distinct from the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

self, but the knowledge that reveals the external world and internal world is one and the same. That is why, the author has laid down —

One who knows the inner self knows the external (world) as well:

One who knows the external (world) knows the inner self as well.

2. Three pre-requisites of the practice of non-violence are as follows:

(1) Perception of terror caused by violence.

(2) Realisation of detrimental consequences of violence.

(3) Equality of all other beings with the Self— that is to say that just as we like pleasure and dislike pain, so do other beings and the vice versa.

3. Cf. Dasavealiyaṃ, 6.37.

4. Acāraṅga Niryukti, gāthā 170:

viaṇe ya tālavaṃre suppasiyapatta celakaṇṇe ya,

abhidhāraṇā ya bāhiṃ gaṃdhaggī vāu satthāiṃ.

5. Angasuttāṇi, Ṭhāṇaṃ, 2/133-137

6. Ibid, Ṭhāṇaṃ, 5/183, paṃcavidhā acittā vāukāiyā paṇṇattā, taṃ jahā- akkaṃte, dhaṃte, pīlie, sarirānugate, saṃmucchime.

7. Niśīthabhāṣya Cūrni, part I, pp. 85-96

8. Bṛhatkalpabhāṣya, Gāthās 973-980

9. Apte, upādā— to seize, to attack

10. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 41-42:

ctthavi jāṇa aṇuvāiyamāṇā.

je āyāre ramaṃti.

aṇāraṃbhamāṇā viṇayaṃ vadaṃti.

āraṃbhe asattā ṇo pagaremti saṃgaṃ.

11. All actions flow from man's conscience which is controlled by his intellect. The intellect, in its turn is triggered off by delusion or non-delusion which respectively makes it untruthful or truthful – vicious or righteous, One whose intellect is illumined by Truth is straightforward in action, speech and thought, and acts with consistency. Only a conscience guided by the intellect fully illumined with Truth can abstain from violence and sensuality. Any sādhaka cannot refrain from violence and sensuality only by external conduct. Only through conscience, guided by the intellect, fully illumined with Truth can one do so.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain System of Education

Prof. D.N. Bhargava
Dr. B.R. Dugar

All social systems of Indian Society are an admixture of the three main currents of Indian culture—Brahminic, Buddhistic and Jainistic. As such, there are no water-tight compartments in respect of the social systems which they follow. Nevertheless, each of these three have their own distinguishing feature which enrich and mould the Indian Society for betterment as a whole. The contribution of the Jain in the field of education is to be studied in the light of this phenomina of unity in diversity.

Three types of Education

Coming to the Jain Agamas, we find that the purpose of education has been clearly mentioned as building of the character of the student. As regards job oriented education, no system could overlook it, and the Jains are no exception. The Rāyapaseṇaijja clearly makes mention of three categories of teachers:

(1) Kalāyariya, the teacher of arts
(2) Sippāyariya, the teacher of crafts
(3) Dhammāyariya, the teacher of religion.

The first two of these, imparted job oriented education. It can be presumed that each religious system should have separate teacher for educating its students in the intricacies of the religion whereas, teacher of arts and crafts would have been common to all.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Respect for teacher

All the above three type of teachers enjoyed high respect, particularly from their students. They earned this respect not only because of their learning but also because of their life of sacrifice. They could command the respect because of their selflessness. The teacher of religion for exceeded the teacher of arts and crafts in austerity and, therefore, got the highest respect. It becomes clear, when we read in the Uttarādhyayan Sūtra that "a pupil should not sit by the side of the teacher, nor before him; nor behind him, he should never put questions while sitting on a stool or bed, but rising from his seat and coming near, we should ask him with folded hands." This was the ideal but there were students who were indisciplined or careless in their studies and were not only addressed with harsh word but were even heaten by their teachers. Such bad students have no thirst for knowledge and if their case was found to be incurable, they were even rusticated from the institution.

Inexpensive Education

Though the rich arranged costly education for their wards, the education for the common man was quite cheap. Some of the students had lodging and boarding in the house of their teacher as member of their family whereas the other students lived together in some type of hostel, when the cost of their lodging and boarding was borne by the rich people of the town or by the royal palace. In all the cases, the students were required to lead a life of austerity. In the case of students of religious education, which was regularly given to the ascetics only, the students were naturally required to follow the rules which were laid down for a Jain ascetic. For the householder, the religious education must have been secondary, the primary position being occupied by the education of arts and crafts.

Suspension of teaching

In the case of any natural calamity, the teaching was suspended. Similar was the case when some war brokeout. Vyāvahāre Bhāśya mentions that even in such trivial cases as killing of mouse by cat or appearance of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

an egg on the road or the birth of a child in the vicinity of the school, the teaching was suspended.

Respect for education

Education was held in high respect, with the result that when a student completed his education, he was received with great pomp and show. The tīkā on uttarādhyayana mentions that when Rakkhia returned from Patliputra after completing his studies, he was given a rousing reception by the state. The city was decorated with colourful flags and he was taken around on an elephant. He was not only offered gold, but cattle and slaves also, by the people.

Similary Jñātā Dharmakathā mentions that Lord Mahavira was sent to the school with great enthusiasm in an auspicious muhūrt, a dinner was given to the relatives and friends and the teacher was offered rich gifts. Almost the same things happened when Megha Kumar returned home after completing his studies. His teacher was given gifts in such quantity that he could live a comfortable life as long as he lived.

Position of Vedic Education amongst the Jaina

The Jain tradition is generally considered to be anti-Vedic. But the term 'Veda' is held in high respect in the Jain tradition, though, the term doesn't apply to the four Vedas which are known to us today. These vedas are Anārya Vedas according to Āvaśyaka cūrṇi, whereas Ārya Vedas were composed by Bhāraha which contained the foundation of the teaching of the Tīrthaṅkaras.

Āvaśyaka cūrṇi mentions another tradition also where twelve aṅgas are called the Vedas. In the light of all this it should not be surprising that Bhagavatisūtra includes the four vedas in the curriculum of the study. The Uttrādhyayana also mentions four Vedas amongst the fourteen Vidyāsthānas. According to Anuyogadvāra and Nandī, works like the Rāmāyaṇa are included under course of popular learning (laukikaśruta). The Thāṇam does mention certain branches of knowledge but categories them as bad (pāpaśruta) because they involved violence directly or indirectly in a gross or subtle form, e.g. science of medicine or science of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

architecture. Obviously, this is the point of view of a monk and not of a house holder.

Arts Education

As in non-Jain tradition, so in Jain tradition, we find the mention of 72 Kalās. These include reading, writing, arithmetic, poetry, sculpture, music, dance, clay modeling, gambling, cooking, astronomy, architecture, wrestling etc. It is clear from this that some of the kalās were fine arts and some of them were job oriented.

Centres of Education

Education was imparted in monasteries, temples and holy places. Vārāṇasi was a centre of cosmopolitan education, where not only the orthodox Vedic system were taught but where Buddhist & Jainistic studies also flourished. Pātlīputra was another such centre.

Position of Upādhyāya

Amongst the monks, a teacher was specially appointed for teaching, who was given a special place as Upādhyāya. As the monks moved from one place to another place, their classes were also moving. Though the main purpose of teaching the monks was to make them experts in the Jain Āgamas, yet grammar and logic were also taught as they helped in understanding the scripture. Debate was popular form of demonstrating and enhancing one's knowledge. This also helped in popularising one's religion. There was a popular form of education also. Singers and storytellers went about amongst the people and narrated deep philosophy in a simpler and attractive way.

Educational system in post-canonical works

After having delt with the material available in the Jain Āgamas regarding the system of education, we may now deal with the material available in the post-canonical literature. Merutuṅga in his famous work Prabandha Cintāmaṇi mentions that king Kumārpāla read Kāmandikī nīti from a teacher. He also mentions that when these was some crucial debate between the followers of different sects, special monks were called from

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

far off places to participate in it. Manytimes the king presided over the debates. From the Kathākośa, we know that a princess went to his teacher for study. Higher education in the Vedic system was primarily restricted to the Brāhmins. The Jains had no caste restriction for anytype of education except that the study of Āgams was restricted to the monks. The householders could listen from the monks about religion in the form of popular lectures but were not allowed to study the Āgamas for themselves.

Family Education

In Ancient times, education started in family. Merutuṅga has mentioned the case of Brahmin who had sons from the wives belonging to different castes. He taught sons of caste wives openly but he taught the son of the lower caste wife in a secret manner. Naturally the children had first training in correct speech at home.

Financial support

The monastery of the Jains is older than that of the Buddhist. Tradition mentions that there was a vast literature even before Lord Mahavīra. It was known as Pūrva literature. Much of this literature was lost because the method of teaching was oral and scripture were not put into black and white for quite a long time. The monasteries were financially supported by grants from the rich and also by the ruling chiefs. Whereas Buddhist king like Ashok established an independent department for looking after Ecclesiastical education, the Jain kings never made religious education a responsibility of the state even though they financially supported it from outside. It appears that education was not the responsibility of the state but of the society. In any case, the financial burden of educating one's ward was very nominal on the parents. The students have not to pay any fees but even got the facility of free boarding and lodging.

Education of Commerce

During the historical period, we find that Jainism became mostly confined to merchantile community who's children had to be educated in the art of business. The secular education, therefore, must have been

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

restricted to the faculty of commerce. Though we donot find any hint of system of commercial education, yet it is clear that the Jains remarkably succeed in the profession of business. From this, we can conclude that they must have a sound system of education in the art of business and management.

Government Departments

That there were intellectual activities are clear from the fact that Parisad's were held. The training of three R's was common to all systems of Ancient Indian Education. The Jain monastries kept the torch of learning burning during the middle ages. There was a department of a charity which used to support education financially. There were, infact, eight departments, viz (1) department of treasury, (2) department of charity, (3) department of medicine, (4) department of army, (5) department of religion, (6) department of education, (7) department of records and (8) department of foreign relations. All these department were to be manned by qualified persons. Naturally the burden of preparing such qualified persons fell upon the educationist. This shows the comprehensiveness of the educational system.

Monasteries

We have a list of monasteries where education was imparted- Banāras, Śrāvastī, Ālabhiyā (Alora), Manivaiya, Kāmpilya, on the bank of Śiprā, Kṣitipratishṭkapura, on the bank of the Godāvarī, Kollāga, a suburb of Vaiśalī, Paṇiyabhūmi, Kummagāma, salakotthaya cheiya in the suburb of Middhiyagāma, and in west India. Nandanavana in the suburb of Bāravaī (Dwārikā), Polāsapura, Pātlālapura, Moḍerapura, Śākuṇikāvihāra, in the city of Bhṛgupura (modern Broach) in the neighbourhood of Narmadā, Vardhamāna, and in the southern India in the 11th century Koṅkonapuli, Kopaṅa, Śravaṇa Belgolā, Pombucca, Balligāma, Anekāntmata, Kuppaāvṭ in the sohrabtālukat, Banarasenād, Heggare, Śringeri, Kolhāpur, Bandaika, Dorasamudra Arasiyakere. These monasteries were established at a location on the basis of availability of water, vegetation, flora and fauna etc.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

No caste-bar

In these monasteries the education was not classified according to the caste of the students. Student belonging to any community could get admission to any course. The Āgamas were taught, but special emphasis was led on understanding their meaning. Any blind cramming was normally discouraged. The process of learning has five steps :

i. Learning the lesson
ii. Enquiring from the teacher
iii. Revision
iv. Pondering and
v. Religious discourse.

The subject matter was clarified through the example of a real or fictions personality.

Secular Education

Besides religious education, secular education was also imparted including military and physical education. Ācārya Hemchandra gives a picture of military education. 'He exhibited to the Lord the shooting of a doll on a wheel, shooting an invisible object by sound, the shooting at a target in water, the shooting of a clay-ball on a wheel with arrows, who showed pādagati, carrying a sword and shield, having entered the shield like the moon in cloud. He whirled rapidly a lance, spear, and dub, giving the appearance of a fiery streak of lighting, revolving in the sky. He showed him knife-science with all the knife-positions, expert in all the steps, like a dancer showing a dance. From devotion to his teacher and a desire to be taught by him showed Ajita Svāmin his skill in other weapons also. Whatever was lacking in Sagara's arts the Master taught him. For such a man had such a teacher. So both, engaged in activities according to their natures, crossed the first period of life, and travelled crossing the boundary of a village.''

Religious Education:

There were two different teachers for two different functions. One was pravajyādāyak, who inciated the novices into the ascetic fold and the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

second was niryāpak, who looked into their moral conduct. The student were expected to show greatest respect to the teacher. The aim of education for a monk was to attain liberation, study of scriptures was considered very important for achieving this end. Kundkundācārya lays down the following code of conduct for a monk—''five vows, five fold carefulness, control of five senses, pulling out of the hair, six fold Āvaśyaka or essential, nakedness, not taking bath, sleeping on ground, not cleaning the teeth, taking meals in standing posture and taking only one meal a day—these, in fact, have been prescribed, as the primary virtues of the ascetic, by the great jinas.''*

Degrees

Degrees were conferred on successful candidates. Students of moderate achievements were called Paṇḍita. Paṇḍita not only indicated intelligence but moral character also. Bahuśruta was another degree which was higher than that of master's degree. But lower than that of the Doctrate. A doctor was supposed to be well-versed in Jain as well as Vedic literature. The purpose of thesis was generally to prove once theory and refuting the theories of the opponents. The world vicaya and pravicaya were used for search and research. Anuprekṣā was used for examining a particular theory.

Education was a neverending process. copying the manuscripts was regular feature in the monasteries. Kalpasūtra has given a description of the number of students of a particular Tīrthaṅkara. Lord Mahāvīra, for example, has 14,000 ascetics and 1,59,000 householders, out of these 364 had wisdom only next to perfection, 1,300 had inductive knowledge and so on. Even if we make an allowance for exaggeration, we do not have a doubt that Lord Mahāvīra had a large number of disciples both ascetic and laity, who got training from him and his gaṇadharas.

Women's Education

One of the salient feature of Jaina Education System is that it was as open for women as for men. The nuns were required to learn the scripture just like monk. The women thus had an equal status with men. The number of nuns and laity women always exceeded that of the monk and layman. Women from royal families also became Jaina nuns. Queen Kāli and Sukāli

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

wives of Śreṇika Bimbasāra joined jain nunnery. Similarly a girl Bhūya got religious instructions from Lord Pārśva. Another lady Bhaddā entered into a debate with the Buddhist. Nunneries existed at Sākatapura, Dwārakā and Polarpura.

Lay women also got education about the child psychology and their growth. They were also given training in music. Thaugh the main education was moral but they had training in writing, language and other secular sciences also. Here is a description of a woman's education~

''When she persisted in this endeavour, there was produced in her intellectual ability; and so, after she had to a certain extent studied the three Vedas, the Raghuvaṁca, the Kāmaśūtra of Vātsyāyan, and the writings of Cāṇakya on morals and the principles of government, she went with her daughter, named Vijayā who was in her fresh youth and learned.''*

Some of the ladies got the title of Paṅdita. When a scholar was insulted at the court of Bhoja, his daughter Bālpandita helped him by writing the first half of the Tilakamañjarī, which was burnt by king Bhoja, from her memory and also composed the second half anew. The lady Bhūya got education alongwith male students at Guṇaśena monastries in Rajgṛaha. We can conclude from this that coeducation was also prevalent.

Education for royal families

The education of the princes was given proper attention in ancient India. The rulers were not only themselves educated but they also patronized scholarship. The child was looked after from the embryonic stage itself. Small children were provided with all sorts of toys. The children was looked after by nurses, one of whom looked after his bath, another his play activities and was provided with all kinds of recreations. It was also seem that he remains physically fit. He was taught through imitation also. His personal likes and dislikes were taken into account while choosing his course of study.

Curricula

The curricula included reading, writing, arithmetic, fine arts, military training, vernacular languages and astronomy/astrology. It appears that study of Vedas and Vedaṇgas was included atleast in theory,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

if not in practice. The father appears to be the first teacher. Normally the age of admission to a school was seven. Prince Gautama was taught, amongst other things, the various branches of military training like arrow-shooting, weilding the sword, feast fighting, arm fighting etc. There is a long list of 72 topics which were taught to a prince :-

1. writing, 2. arithmetic, 3. singing, 4. dancing, 5. reading, 6. music, 7. grammar, 8. prosody, 9. astronomy, 10. phonetics, 11. etymology, 12. ritual, 13. lexicography, 14. cutting of leaves, 15. cutting of nails, 16. testing of jems, 17. use of weapons, 18. riding elephant, 19. riding horses, 20. learning the use of arrows, 21. science of mantra, 22. science of surgical instrument, 23. alchemy, 24. mining, 25. chemistry, 26. science, 27. logic, 28. siddhanta, 29. the science of curing poison, 30. the cure of snake bites, 31. reading omens from the flight and cry of birds, 32. medicine, 33. the science of teaching, 34. traditional doctrine, 35. architecture, 36. palmistry, 37. law, 38. purāṇam, 39. anecdotes, 40. Vedas, 41. injunction, 42. interpretation of learning, 43. philosophy, 44. yogic practice, 45. black arts, 46. magic, 47. occult practice, 48. cunning-art, 49. perfumery, 50. treatment of plant-diseases, 51. manufacture of artificial jems, 52. sundry art, 53. enchanting, 54. trade or business, 55. painting, 56. carpentry, 57. stone work, 58. ointment, 59. leather work, 60. manufacture of machines or implements, 61. poetry, 62. rhetoric, 63. comic, 64. Sanskrit, 65. Prakrits, 66. witchcraft, 67. Apabhraṁśa prakrit, 68. art of tricks, 69. spoken dialects, 70. metal-work, 71. the mode of recitation, 72. the rule of the Kevalins.*

It is clear that such a vast curricula of a diverse nature could not have been meant for monks and nuns but only for the householders. There must have been specialist to teach these subjects of diversified nature. These subjects can be broadly classified as follows.

1. Subjects meant for all i.e. three r's (writing, arithmetic and reading)
2. Subjects connected with Vedangas
3. Fine arts
4. Sciences
5. Applied Sciences
6. Military Science
7. Commerce

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8. Traditional Knowledge
9. Practical Knowledge
10. Philosophy
11. Spiritualism

It is clear that training in all the faculties was imparted. It can be assumed that the students have been given choice to select the subjects of their own liking. Since we get these informations from the history of the princes, it can be assumed that many of these subjects were meant for those who run the state. This education was, therefore, different from monastic education. Travelling was considered to be a good means of acquiring first hand knowledge.

Vocational Education

The Jains had a system of vocational education also. Forests appear to be a good source of livelihood to which Rājśekhar Sūri refers as vanajavṛti and Hemcandrācarya vanajīvīkā which includes selling of fruits, flowers and leaves of wild trees. Anyone who took this kind of livelihood had to depend on his knowledge of geography. Traffic in ivory also demanded such knowledge. Other trade in animals were prevalent but were looked down upon by the Jain as astīpoṣāṇa because they involved violence. Trade in minerals must have been rather more popular. Such trade included occupation of jewellery, gold, silver and copper. We find that a provision for training in these professions was also made under such subjects as ratnaparīkṣā.

There were different centre which specialized in different disciplines. Campaka for example, was a centre for commerce. The result was that it had specialized in architecture and fine arts, notably music. Rajgṛaha was the centre of military activities. It was, therefore, also a centre for learning of martial arts. At Vaiśali, there were different government officials, like minister, counsellors, commanders, heads of police etc. Similarlly Dwārikā and Polasāpura were also great centres of commerce.

Education as per one's capability

In ancient India, caste was the deciding factor for adopting a vocation. Jainism, however, decided the profession of a person according to his liking. According to Jain Scriptures one has to be judged by four types of talents (i) intutive—autpātikī (ii) disciplined—vainayikī (iii) the talent

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

acquired by practice— Karmajā and (iv) talent acquired by maturity of age—pāreṇāmiki. Some time business talent is also mentioned.

The state, the family, the church, the school and industry were the five institutions responsible for imparting education. The industry was controlled by the state and the industry helped the promotion of education. The first Tīrthaṇkar Ṛṣabha introduced agricultural, industrial and commercial persuits. There were guilds of persons following different professions. There was more imphasis on practical training with the result that problem of unemployment did not face the student.

Conclusion

It is clear from what has been said above that the Jains had an educational system aimed at producing good citizens, morally sound monks and efficient rulers. Secular education was given along with religious education. The family, the temple, the state, the school and industry co-ordinating with each other for the cause of education. The monks delivered lectures, which could be compared to the extension lectures of modern time. Degrees like Pandit, Bahuśuta and Bhaṭṭa were also conferred upon successful candidates. Punishment was provided for indiscipline and negligence. The curricula which was followed, was not secterian but very broad and practical. The educational institution had full autonomy and the state did not intervene. The religious education aimed at upliftment of the self, whereas, the secular education aimed at a healthy society. Majority of students was given job-oriented education. Only the selected few pursue purely academic courses. The monks also instructed the public in general, which served the purpose of adult education of today. The Jains have been philanthrophist from the very beginning and they economically supported all educational institutions without discriminating against non-jain institutions.

References :

* Śrī Kundakundācārya, Pravacanasāra, edited by A.N. Upadhye, P. 25, verses 8-9.
* Rājaśekhara Sūri, Prabandhakoṣa, Vol. I, P.64.
* Rājaśekhara Sūri, Prabandhakoṣa, Vol. I, p. 28.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Courtesans in Jain Literature

Dr. Anil Dhar

The institution of courtesans in ancient India in its social setting has not yet received as much attention from scholars as it deserves. Courtesans in ancient India did not merely serve the baser needs of society but were also symbol of culture and ***ars amories***. Around them moved interesting characters such as rich merchants, bankers and the rakes. In this way a courtesan became an important part of Indian society. So far as literature is concerned, courtesans, in spite of their perfidies, were considered urban institution which gave an impetus to art and the life of luxury. Special officers were appointed by the state to look after their welfare. Courtesans were not only invited by the king, high officers of the state, and rich men for dancing, music, and dramatic performances, but they also accompanied their lovers to pleasure parties, gambling houses, and drinking booths. Such convivial parties were known as *goṣṭhī*.

The institution of courtesans is distinguished feature of developed urban society and, therefore, in Vedic and post-vedic literature though the courtesans are mentioned casually, we hardly know about their life and accomplishments. In Jain literature as well, courtesans have received attention and their achievements have been noted. In later Jain Prakrit literature we get detailed information about courtesans. One might question why Jain literature terse, dry as-dust, ascetic and ethical in tone-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

preserved such information. To me, the answer is difficult to find. One reason for this may be the Jain writers love for detail. This interest in detail relates not only to the way of life they themselves followed or wanted others to follow but also to the life of the people around them, and, in this category came not only the kings and their nobels, but also the merchant community, a community which still holds the control over commerce of modern India even.

The life of princes and noblemen and merchants because of their wealth was exceedingly luxurious and thus courtesans naturally played an important part. Consciously or unconsciously the life of its patrons left a deep impression on Jain canonical literature. Moreover, though prostitution was looked down upon by Jains, no social stigma seems to have been attached to it, and therefore, Jainism dealt with the problem in a matter-of-fact and candid way. Some of the stories and descriptions of courtesans in the Jain canon make this point amply clear.

The *(Jñātādharma katnā)* lists the attainments of a highly accomplished courtesan of Champa. Her body was faultless (*Ahīna*), imbued with auspicious signs *(lakṣṇa),* and marked with black painted tilkas (vyañjana). She had the right height, girth and weight. She was proficient in the seventy-two traditional arts, and was endowed with the sixty-four qualities necessary for a courtesan. Here ásixty-fourâ might mean the sixty-four arts such as music, dancing etc., or sixty-four kinds of sexual and erotic poses and embraces. She had also an expert knowledge of the twenty-nine special qualities, the thirty-one kinds of *ratiguṇa* (sexual poses) and the thirty-two ways of treating men. She aroused slumbering passions by her youthful beauty. She was also a linguist, conversant with eighteen regional languages. She was fond of music and an expert dancer. She was graceful, witty and sweet in her conversation and a strict observer of etiquette. Her lovely breasts, her body, hands and legs were all seductive. Her fees were a thousand a day. The king granted her the special privilege of using the umbrella, chavri and fan, and she always travelled in a covered wagon. She commanded and patronized a thousand courtesans. According to *Sūtrakṛtāṅga churine* courtesans were well-versed in *vaiśika* (a section of the science of erotics) which is

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

exclusively devoted to the problems of courtesans. The commentary mentions that when Dattaka was cheated by a courtesan, he refused to make love to another courtesan in spite of all the blandishments sanctioned by the science of erotics.

The *Bṛhatkalpasūtra Baḥ* refers to a picture gallery run by a courtesan. This reminds us of a similar gallery started by Amrapali. Here the story is about a courtesan well-versed in the sixty-four arts, who once commissioned the portraits of all kinds of men of different trades and professions as well as the methods of assuaging their fury when they were angry. Whosoever visited her was taken to the gallery and was given a sort of psychological test before she agreed to consort with him. Elsewhere in the *Jñātādharmakatha* (III.51-52) it is mentioned that the courtesan Devadatta of Champa used to go on picnics with her rich clients. With flowers and perfumes and exotic food they proceeded to the Nada lake and set up a temporary camp *(thunamaṇḍavam)* not far from the lake. Mounting the chariot with the courtesan Devadatta, they proceeded to the garden and sported in the lake, enjoyed the food and perfumes they had brought with them and slept with her, and in the afternoon they walked arm in arm with Devadatta and enjoyed the beauty of the garden.In Jain literature we often meet with courtesan of a folly character who belie the usual notions about the lust and greed of ordinary prostitutes. Kosa, a famous courtesan of Patliputra loved Sthulabhadra, and after his retirement from worldly life she refused to consort with anybody. When Sthualbhadra. (as a monk) returned to Patliputra, she listened to his sermons and became a *śrāvikā*. She, however, took the rather curious vow that she would not grant her favours to anyone except when forced to do so by the king. Similarly, Devadatta, a renowned courtesan of Ujjain, spurned the love of Achala, a rich merchant of the town became of her great love for the adventurous Muladeva. The protests of her mother were of no avail. She requested the king not to force anyone on her as she was determined to live with Muladeva alone. A ganikā's position was respected by the king to such an extent that usually her claims were allowed to meet to her satisfaction.

According to Jain sources prostitution was so rampant in the country

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

that Jain nuns were cautioned against it. The Jain nuns had to be careful in their choice of lodging during their religious tours. Among the prohibited places were guest houses (*āgamanagṛha*), where travellers who could find no accomodation elsewhere sought shelter. There were all kinds of riff-raff including prostitutes and pimps whose behavior was bound to affect the morals of the nuns. The Jain monks had their own tale of woe as far as prostitutes were concerned. When the monks saw lascivious men and women embracing one another and heard the sounds they made as they continued their love-play, their ascetic resolve tended to weaken. The monks had to fight against another potent menace. Prostitutes some times entered their monastery and asked permission to stay there over night. If this was allowed, they made overtures to the monks, putting them in a very difficult position. The monks at first tactfully persuaded the uninvited guests to leave, but if they failed they thought the wiser thing to do was to make a hasty retreat and quit the building. At times more drastic measures had to be adopted. When they were absolutely at the end of their tether because of the importunities of the prostitutes, the monks tied them up for the night and released them in the morning. But the matter did not end there. If a prostitute sned the monks before the king, they had to appear before him personally and answer the charges. In keeping with the stern ascetic principles of Jainism, the Jain canonical works warned the monks at every step to keep away from women. The *chedasutras* carefully analyzed the sexual aberrations of Jain monks and laid down rules to help them avoid pitfalls. The ***Sūtrakṛtāṅga*** 1:4,2 etc., gives a rather humorous picture of an infatuated monk in the clothes of a women of ill repute. Taking advantage of the situation she scolded him and struck his head with her lifted foot. She teased him saying, "O monk! If you do not want me to retain my hair, I shall get them plucked, but please do not leave me." After getting him in her clutches, she sent him on all kinds of petty errands," look for the bodkin to carve the bottle gourd; fetch some delicious fruit for me. Bring me wood to cook these vegetables and to light the fire at night. Paint my feet; come and rub my back ; look at my clothes; bring me food and drink. Get me some perfume and a broom. Bring me a barber (to shave my head). Give me the collyrium, my ornaments, the *lodhra* powder (for dyeing), the lutes, and bring me the pill (to restore my

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

youth). Bring to me *utpalakushta* (costus reciosus), *tagara* powder (tabernaemontana coronaria) and aloes powdered with fragrant *ushira* (andropogon muricatus), oil for anointing and bamboo baskets to put my things in. Reach me the lip solve (*nandicuṇṇagaiṃ*). Fetch the umbrella and slippers, the knife to cut the thread, get my robes dyed blue. Give me the pot to coock the vegetables in and another to bring water in. Give me the stick with which I paint the mark on the forehead (*tilaka-karaṇimañjana salgam*), the pin to apply collyrium to the eyes and the fan that I use when it is hot. Fetch me the pincers (*saṃḍāsagam*) to pick the hair in my nose. Get me a comb and a ribbon to bind the hair. Reach me the looking glass; put the toothbrush near me. Fetch me the arccaunt and betel, my needle and some thread the winnowing basket and the pot for lignelying natron. Give me the vessel (for worshipping the gods) and the other water-pots. Friend, dig a privy. Buy a beaker, a drum and a ball of cloth (*celagolam*) for the boy to play with. Shramana, the rainy season is at hand, look after the house and stores. Fetch the chair with woven twine (*āsandiyaṃ*) and wooden shoes to walk in."

The necessary corollaries of prostitution in ancient India were musical soirees, clubs and pleasure trips or even religious festivals in which prortitutes and other malefactors formed a part of the crowd. One such important occasion was *saṃkhaḍī,* which is equivalent to the *samajjas* of Buddhist literature. It is mentioned in one of the *sutras* of *Bṛahat kalpa sūtra Bhāṣya,* which shows that it was a fairly ancient institution. The word is derived from *sam,* "in large groups, and *khaḍa,* "killing", i.e. the festival in which animals were slaughtered in large numbers. The *saṃkhaḍi* was held in the early part of the day or after sunset. It is said that a *saṃkhaḍi* was held near the tank Rishi Tadaga situated at Tosali (Orissa). During a pilgrimage to *kindalamentha* (situated in a deep forest) the people living in the neighbour-hood of *Bharukaccha* performed a *saṃkhaḍi,* and it formed a part of the ceremonies of the pilgrimage to Arbuda (Abu) or *Prabhāsa.* The People of the *Anandapura* performed *samakhadi* every winter at a spot called *Prācinavaha* where the direction of the river Saraswati changed to the east. The *saṃkhaḍi* was not confined to only a particular religion or sect since the Buddhist, Shaiva and Bhagavat monks

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

are said to have also participated in it and held regular disputations. But such *saṃkhaḍis*, full of fun for ordinary men and women, spelt difficulties for the Jain monks.

Jain canonical literature makes occasional references to *gosṭhī*. The members of *gosṭhī* were connoisseurs of music and the arts and closely associated with courtesans. The *Niśithasūtra* gives us some valuable information about the organisation of *gosṭhīs*- information that is not found anywhere else. *Ghaḍa*, the *ghaṭa* of the *kamsutra*, is equated here with *gosṭhī*. The cultural aspect of goshthi is emphasized in literature, and certain vignettes reveal the reverse side of the medal as well. The patronage of art and culture was no doubt an important function of the *gosṭhīs*, but they also became notorious for their hard drinking, their revels, their encouragement of prostitution and also their brawls. The other important work of *gosṭhī* was to employ a number of ordinary prostitutes who satisfied the lust of its members. Unoccupied houses were used as meeting places by such voluptnaries. It is said that Mahavira in the course of his wanderings with Goshala happened to stay in an empty house, Simha, the son of the village headman, also chanced to come there with a slave girl in the employment of a *gosṭhī (goshthidāsi)*. He announced that if any traveller, Brahman or monk happened to be staying there, he should proceed to some other place. As he received no response from anyone, he made love to the prostitute there and then, but while leaving the place her body came in contact with that of *Gośāla*. An alarm was raised and poor *Gośāla* received a beating from Simha. Music and dancing (the special preserve of dancing girls) were favourite forms of amusement in ancient India. It is a fact worth nothing that the highly luxurious society of the Gupta period which tolerated a refined sensuality was a society in which dancers, both male and female, covered their bodies. This observation is supported by the portrayal of modestly dressed figures in the Ajanta and Bagh paintings. The Jain literature also supports this view. The BKSB.,IV. 4127 mentions that the danseuse *(nartakī)* was so decorously dressed that she had no occasion to feel embarrassed when she lifted her legs in the dance. Even the acrobatic danseuse (laṅkhikā) as she tumbled in the arena, did not feel any kind of embarrassment for she was always quite adequately dressed.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

It has been pointed out earlier that courtesans refered to in Jain literature were supposed to have acquired a knowledge of seventy two traditional arts. Out of them are many of the items of the sixty-four arts mentioned in the *Kāmasutra*. The following arts are mentioned :

Leham: The art of writing is divided into two sub-divisions-writing of various regional scripts and writing on materials uch as bark, wood ivory, metal plates which demanded a different technique. It also include the mode of composing letters to the master, the subordinate, the father, the son, the teacher, the disciple, the wife, the husband, the friend or the enemy. A knowledge of the defects of transcription (e.g. the undue thinness or thickness of the letters, the absense of uniforimty in their sizes the bent line and the lack of punctuation (etc.) is also included in this art.

Gaṇita: Accounting and arithmetic and all its branches.

Ruvam: The term includes all figural arts using the medium of terracotta, stone, gold, semi-precious stones, cloth, paint etc.

Nattam (nṛtyam): A generic term for dancing with or without gestures equated with tandava by the commentator.

Gāyam (gītam): It includes all techniques of singing.

Bāiyam (vāditam): Instrumental music, including instruments of percussion and wind instruments, etc.

Saragayam: (svaragatam): The Knowledge of musical scales.

Pukkharāgayam: the knowledge of playing on various kinds of drums. According to the commentator it had been included as an art distnict from *vāditam*, as the art of playing the drum was an important branch of the science of music.

Samatālam: The art of keeping perfect time in music.

Juyam: Apparently the term included all kinds of gambling or games of skill played for stakes.

Janavāyam (janavādam): Apparently the art of popular conversation or ingenuity in gossping is intended here.

Pāsayam (Pāśakam): The game of dice. Apparently the art include all kinds of gambling tricks.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Aṭṭhavayaṃ: The game of eight square boards which may be the same as chess.

Porakaccaṃ (purakṛtyam): It has been explained as the art of versifying at a momentâs notice, known as *sīghra* or *āśu-kavitva.*

Dagamaṭṭiyaṃ (udakamṛttikā): Apparently it was the art of mixing water with earth in proper proportion before the mixture was used as a medium for making different articles.

Aṇṇavihim (annavidhim): The art of cooking which included the preparation of sweet and savoury dishes

Pāṇavihiṃ (pānavidhim): The rules for preparing wines and liquors. The commentator, however, explains it as the process for cleaning water of mud. It could also mean the proper and improper use of water as laid down in the *Āyurveda.*

Vatthavihi: This included the modes of wearing garments and also determining new fashions in textiles and the place of their origin.

Śayanavihiṃ (śayanavidhim): The rules regarding cots and beds. For instance, such rules determined the sizes and the materials used for the beds of kings, princes, ministers,etc.

Vilevaṇavihiṃ (vilepanavidhim): The art of making perfumes, ointments etc. It was considered a great accomplishment to study *Gandhayukti,* which gave the formula for perfume-making.

Ajjaṃ(āryam): That art of composing Arya metres.

Paheliyaṃ: The knowledge of riddles, new riddles could also be composed.

Māgahiyaṃ: The knowledge of composing verses in the Magadhi metre.

Gāhaṃ: Prakrit and Apabhramsa composition.

Silogaṃ: Composing *slokas* in *Anuṣṭupa* metre etc.

Gītika: Knowledge of metre.

Hiraṇṇa-juttiṃ and *suvaṇṇa-juttiṃ*: The employment of wrought and unwrought gold in their proper places.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Cūrna-yukti: The process of making powders of costus speciocous and mixing other articles with them.

Ābharaṇavihiṃ: Rules regarding the making and wearing of ornaments.

Taruṇipadhikamma: The ways of the allurements of womenfolk.

Itthilakkhana, purisa: The good and bad marks on men and women as laid down in the *sāmudrika sāstra.*

Hayalakkhana, gaya, goṇa, kukkuḍa, mindha: The science of determining the qualities of horses, elephants, bullocks, cocks and ram.

Chatta lakkhaṇa, daṇḍa, asi: The quality of the royal umbrella.

The danda is used here in the sense of the handle of the umbrella, the goad, the bow, the standerd etc. The *asilakkhaṇa* included the proper measurement of swords in order to ensure favourable results.

Maṇilakkhaṇa: This art included the expert knowledge of precious and semi-precious stones, their merits and flaws, prices, origin, etc.

Kagaṇi lakkhaṇa: It was a special jewel of the *cakravartin* (the universal emperor) and supposed to be an antidote against poisons.

Vatthuvijjā: The science of architecture which included the selection of the suitable sites and materials, lists of different types of temples, civic architecture and various branches of architecture were also included.

Khandhāvāramāṇaṃ: The measurement of camp sites. The science might also have included the proper division of the army. For instance, in a well-balanced force the ratio was one chariot to one elephant, three horsemen and five men of the infantry.

Nagaramāṇaṃ: Town planning which included laying down the proper area of a city and determining its length, breadth and division into various blocks, the layout of its roads, the site for the palace, defence walls and gates etc.

Caraṃ, prati: Espionage and counter -espionage. The terms have also been explained as favourable and un-favourable planetary movements.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Vyuham and *prati:* The formation of coulmns and counter coulmns.

Cakravyuham: The formation of a military coulmn in the form of a wheel.

Garuḍa vyuham: The formation of a military coulmn in the form of an eagle.

Śakaṭa vyuham: The formation of a coulmn in the form of a wagon.

Yuddham: A general term for fighting. The commentary, however, interprets it to mean fights of cocks and horned animals.

Niyuddham: Heavy fighting or wrestling.

Yuddhātiyuddham: Fighting at close quarters.

Dṛṣṭi yuddham: Fixing oneâs gaze on the enemy.

Muṣṭi yuddham: Boxing.

Bāhu yuddham: A fight in which the arms of both the hands were used.

Latā yuddham: Explained in the commentary thus: "as a creeper entwines the tree, in like manner a warrior entwines his opponent in war."

Iṣu Śastram: The science of making arrows and certain legendary missiles.

Tsarupravadam: The art in which the use of the sword handle figures prominently. Apparently fencing is meant here.

Dhanurvedam: The science of archery.

Hiraṇyapaka, Suvarṇa: Wrought and unwrought gold.

Sūtra khelam: Playing with threads, clothes *(vattha)*, and lotus stalks (*ṇalī*).

Patracehedyam: The art of cutting designs from leaves.

Katacchedyam: The art of making straw mats.

Sajīvam-nirjīvam: The art of giving and taking away life.

Śakunārutam: Prognostication based on the cries of birds.

A study of this list of seventy-two arts leaves one wondering whether the courtesans could ever master these arts and in particular those

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

with which they had nothing to do and which came strictly within the purview of masculine skills. The proficiency of the courtesans in seventy-two arts is, therefore, a mere convention and is merely intended to indicate that they were highly cultured. Of the seventy-two arts, only writing or painting, sculpture, dancing and singing, playing on various kinds of musical instruments, gambling of several kinds, cooking and brewing drinks, proficiency in certain forms of literary composition knowledge of men and women, making of ornaments and cutting designs from leaves and perhaps a few more could have been studied by the courtesans to increase their professional prestige.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Postal Department : NUR 08 R.N.I. No. 28340/75

यः स्याद्वादी वचनसमये योप्यनेकान्तदृष्टिः
श्रद्धाकाले चरणविषये यश्च चारित्रनिष्ठः।
ज्ञानी ध्यानी प्रवचनपटुः कर्मयोगी तपस्वी,
नानारूपो भवतु शरणं वर्धमानो जिनेन्द्रः॥

जो बोलने के समय स्याद्वादी, श्रद्धाकाल में अनेकान्तदर्शी, आचरण की भूमिका में चरित्रनिष्ठ, प्रवृत्तिकाल में ज्ञानी, निवृत्तिकाल में ध्यानी, बाह्य के प्रति कर्मयोगी और अन्तर् के प्रति तपस्वी है, वह नानारूपधर भगवान् वर्द्धमान मेरे लिए शरण हो।

With Best Compliments From :

AMIT SYNTHETICS

Shop :
W-3207, Surat Textile Market, SURAT

Office :
420, Anand Market, Ring Road, SURAT-395 002
Phone : 2622076, 2625680, 2622027 • Fax : 0261-2636651

PEMCHAND CHOPRA CHARITABLE TRUST

W-3207, Surat Textile Market, Ring Road
SURAT

JHAMKUDEVI CHOPRA CHARITABLE TRUST

11-A, B, Sai Ashish Society
Udhana Magdalla Road
SURAT

प्रकाशक - सम्पादक - डॉ. मुमुक्षु शान्ता जैन द्वारा जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं के लिए प्रकाशित एवं जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org